भारतीय काव्यशास्त्र - I

एम.ए. (हिंदी) तृतीय सेमेस्टर : पेपर - 2

आलोचनात्मक प्रश्न

1. काव्य : स्वरूप और प्रकार

काव्य : अर्थ और परिभाषा

1. काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए काव्य के प्रकारों का संक्षिप्त परिचय दीजिए। **(Most Imp.)**

अथवा

काव्य के अर्थ एवं विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई काव्य की परिभाषाओं की विदेचना कीजिए।

अथवा

काव्य की परिभाषा देकर उसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–काव्य का अर्थ परिभाषा एवं स्वरूप–काव्य से अभिप्राय उस लिखित श्रव्य अथवा दृश्य-श्रव्य सामग्री से है, जिसे पढ़कर पाठक को, सुनकर श्रोता को और देख व सुनकर दर्शक को एक विशेष अनिवर्चनीय आनंद की अनुभूति होती है। आज काव्य अपने व्यापकतम रूप में उस तमाम साहित्य का प्रतिनिधित्व करता है, जो किसी भी प्रकार से पद्य अथवा गद्य में लिखित अथवा रिकॉर्डिड है। दूसरी ओर काव्य को केवल कविता के रूप में ग्रहण करना काव्य का संकुचन करना है। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में सदियों से काव्य को परिभाषित करने एवं उसका स्वरूप निश्चित करने का प्रयास किया गया है, परंतु फिर भी हम कह सकते हैं कि काव्य (साहित्य) का एक पूर्ण स्वरूप आज तक निश्चित नहीं हो पाया है, क्योंकि काव्य तो गंगा की उस पवित्र धारा के समान है, जिसकी गति उसके निरंतर प्रवाहित होने में है, कहीं रुक कर बैठने में नहीं। फिर भी अध्ययन की सुविधार्थ समय-समय पर काव्य का स्वरूप निर्धारित करने, उसे पुनः परिभाषित करने का प्रयास किया जाता रहा है तथा आगे भी किया जाता रहेगा। इसी से इसके स्वरूप में भी कुछ न कुछ परिवर्तन सदैव ही दृष्टिगोचर होता रहेगा।

काव्य का स्वरूप निर्धारित करने के लिए विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। कोई एक ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकती जो निर्दोष कही जा सके। फिर भी काव्य की एक परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जो अव्याप्ति, अति-व्याप्ति और असंभव दोषों से मुक्त हो अर्थात् काव्य की परिभाषा संक्षिप्त और सुबोध होनी चाहिए। सर्वप्रथम संस्कृत के आचार्यों का उल्लेख करना आवश्यक होगा, क्योंकि भारतीय साहित्य में सबसे पहले संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य लक्षण (परिभाषा) प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

(क) संस्कृत के आचार्यों का मत

विभिन्न संस्कृताचार्यों द्वारा 'काव्य' को इस प्रकार परिभाषित किया गया है–

1. भामह–इन्होंने शब्द और अर्थ के सहित भाव को काव्य माना है। वे कहते हैं–

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।"

भामह द्वारा दी गई यह परिभाषा काव्य पर घटित ही नहीं होती, बल्कि यह प्रत्येक प्रकार के सार्थक कथन पर घटित हो सकती है। कारण यह है कि उन्होंने तो शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार के अलंकारों का चमत्कार स्वीकार किया है। इस मान्यता के अनुसार भामह का काव्य लक्षण यह हो सकता है–**"शोभित शब्द और अर्थ का समन्वय काव्य कहलाता है।"** यह परिभाषा एक तो स्पष्ट नहीं है, दूसरा यह अव्याप्ति दोष से ग्रसित भी है।

2. दण्डी–इन्होंने इष्ट अर्थ से परिपूर्ण पदावली को काव्य का शरीर माना है। वे कहते हैं–

"शरीरं तावद् इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।"

दण्डी भी भामह के समान अलंकारवादी आचार्य थे। वे अलंकार को काव्य का शोभाकारक धर्म मानते थे। 'इष्ट' अर्थ से उनका तात्पर्य हो सकता है–अलंकार-जन्य अह्लाद। दण्डी का यह कथन काव्य शरीर का स्वरूप स्पष्ट करता है, न कि काव्य का। फिर भी इसे काव्य की परिभाषा मान लिया जाए तो इसमें प्रमुख दोष यह है कि काव्य का शरीर पदावली नहीं होता, बल्कि शब्द और अर्थ दोनों का समन्वित रूप होता है। दूसरा 'इष्टार्थ' शब्द की व्याख्या करनी आवश्यक है। फिर भी इस लक्षण का अपना महत्त्व है, क्योंकि परवर्ती आचार्यों ने काव्य-पुरुष का जो स्वरूप बनाया, उसका यह प्रथम स्रोत है।

3. वामन–वामन का कथन है–**"काव्य उस शब्दार्थ को कहते हैं जो दोष-रहित हो तथा जिसमें गुण नित्य रूप से और अलंकार अनित्य रूप से विद्यमान हो, और इसकी आत्मा है रीति।"**

"काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।"

आचार्य वामन रीतिवादी आचार्य थे। इसलिए उन्होंने रीति को ही काव्य की आत्मा माना। यहाँ रीति शब्द की भी व्याख्या होनी चाहिए। उनके द्वारा दी गई परिभाषा काव्य के बाह्य पक्ष की चर्चा करती है। अतः इसे सही परिभाषा नहीं माना जा सकता।

4. आनन्दवर्धन–आनन्दवर्धन ध्वनिवादी आचार्य थे। काव्य लक्षण के बारे में उनके दो कथन महत्त्वपूर्ण हैं। ये दोनों कथन काव्य के बाह्य और आंतरिक रूपों की ओर संकेत करते हैं। इन कथनों के अनुसार–**"काव्य उस शब्दार्थ रूप-शरीर को कहते हैं जिसकी आत्मा, ध्वनि (व्यंग्यार्थ) है।"**

"शब्दार्थ शरीरं तावत् काव्यम् ध्वनिरात्मा काव्यस्य।"

यद्यपि यह परिभाषा काव्य के आंतरिक तत्त्व ध्वनि पर अधिक बल देती है परंतु 'ध्वनि' शब्द अपने आप में व्याख्या सापेक्ष है।

5. कुन्तक–कुन्तक के अनुसार–**"कवि के वक्र व्यापार से युक्त और सहृदय आह्लादक सम्बद्ध शुद्ध और अर्थ वाली रचना को काव्य कहते हैं।"** वस्तुतः कुन्तक वक्रोक्ति सिद्धांत के प्रतिपादक थे और उन्होंने इसी संदर्भ में काव्य की परिभाषा दी। वे कहते हैं–

"शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापारशालिनी"

बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।"

6. भोजराज–भोजराज ने दोषरहित, गुणसहित, अलंकार युक्त तथा रसयुक्त रचना को काव्य की संज्ञा दी है।

7. मम्मट–मम्मट संस्कृत के ऐसे काव्यशास्त्री हैं जिन्होंने एक बार पुनः विस्तारपूर्वक काव्य लक्षण दिया। उनका कथन है–**"दोषरहित, गुण तथा अलंकार सहित शब्दार्थ का नाम काव्य है।"** कहीं-कहीं अलंकार के स्फुट न होने पर भी दोष-रहित, गुण-सहित शब्दार्थ को काव्य कहा जाता है। वे कहते हैं–

"तदोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि।"

उनका विचार यह है कि काव्य में निर्दोषता और सगुणता दोनों ही अनिवार्य तत्त्व हैं। अलंकार हो अथवा न हो, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। यहाँ मम्मट द्वारा काव्य की जो परिभाषा दी गई है, उनमें तीन शब्द व्याख्या सापेक्ष हैं–

(i) **अदोषौ**–आचार्य विश्वनाथ का कहना है कि सर्वत्र नितान्त निर्दोष काव्य की परिकल्पना असंभव है। यदि निर्दोषता को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मान लिया जाए तो कोई भी रचना काव्य नहीं कही जा सकती।

(ii) **सगुणौ**–इस संदर्भ में विश्वनाथ ने दो आपत्तियां उठाई हैं। यदि सगुणौ, शब्दार्थौ कहकर मम्मट शब्द और अर्थ रस के व्यंजक मानते हैं तो उनको **सरसौ** कहना चाहिए था। दूसरी आपत्ति यह है कि यदि सगुणौ शब्दार्थौ से उनका अभिप्राय यह कि शब्दार्थ ऐसा हो जो रसानुकूल गुणों से युक्त हो तो यह स्थिति भी काव्य के स्वरूप को निर्धारण नहीं करती।

(iii) **अनलंकृति पुनः क्वापि**–इस संदर्भ में आचार्य विश्वनाथ का यह कथन है कि निश्चय से अलंकार काव्य के स्वरूप पर निर्धारित नहीं है लेकिन उसका उत्कर्ष अवश्य है। इस संदर्भ में आचार्य जयदेव ने भी आपत्ति की है। उनका कथन है कि काव्य को अलंकार रहित मानना उसी प्रकार है जैसे अग्नि को उष्णता रहित मानना।

8. जयदेव–दोषरहित, लक्षणयुक्त रीतियों से सम्पन्न, गुणों से भूषित रस, अलंकार और वृत्तियों से युक्त रचना को काव्य माना है।

9. आचार्य हेमचन्द्र–आचार्य हेमचन्द्र ने दोषरहित, गुणसहित तथा अलंकार युक्त शब्दार्थ को काव्य माना है।

10. आचार्य विश्वनाथ–आचार्य विश्वनाथ रसवादी आचार्य थे। उन्होंने काव्य की संक्षिप्त परिभाषा दी है–**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**। अर्थात् रसात्मक काव्य ही काव्य कहलाता है। आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट आदि द्वारा दी गई परिभाषाओं का खण्डन करते हुए रस को आधार बनाकर काव्य की यह नई परिभाषा दी। परवर्ती आलोचकों ने उनकी इस परिभाषा का स्वागत किया। परंतु यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाता है तो काव्य के अन्य सभी तत्त्व नगण्य हो जाएँगे जो कि उचित नहीं है।

11. पंडितराज जगन्नाथ–संस्कृत आचार्यों में यह अन्तिम प्रतिष्ठा प्राप्त आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने पूर्ववर्ती त्रुटियों का निराकरण किया और एक नवीन दृष्टि से काव्य की परिभाषा दी। उनका कथन है–**"रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला वाक्य ही काव्य है।"** वे कहते हैं–

"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

प्रस्तुत परिभाषा में रमणीयता शब्द का प्रयोग पूर्ववर्ती परिभाषाओं के दोषों को दूर करता है क्योंकि रमणीयता एक व्यापक शब्द है परंतु यह काव्य का अनिवार्य धर्म कहा जा सकता है। रमणीय शब्द रस, ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य, अलंकार रीति, वक्रोक्ति आदि सभी का वाचक है। यह परिभाषा रसवादी अथवा अन्य सम्प्रदायों के दोषों को भी दूर करती है। रमणीयता निश्चय ही काव्य का अनिवार्य धर्म है।

(ख) रीतिकालीन आचार्यों का मत

जहाँ तक रीतिकालीन आचार्य कवियों का प्रश्न है, उन्होंने काव्य की कोई मौलिक परिभाषा नहीं दी। अधिकांश रीतिकालीन आचार्य कवि संस्कृत के किसी-न-किसी आचार्य से प्रभावित दिखाई देते हैं। उदाहरण के रूप में **केशवदास** एक अलंकारवादी आचार्य थे। अतः उन्होंने अलंकार के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए काव्य की परिभाषा देते हुए कहा–

"जदपि सुजानि सुलच्छनी, सुबइन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजइ कविता वनिता मित्त।।"

आचार्य चिंतामणि त्रिपाठी मम्मट के काव्य प्रकाश से प्रभावित थे। अतः उन्होंने गुणसहित, अलंकार सहित तथा दोष रहित शब्दार्थ को काव्य माना है।

कुलपति मिश्र एक अन्य रीतिकालीन आचार्य कवि हैं। उन्होंने आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथ से प्रभावित होकर काव्य लक्षण दिया।

"जग तें अद्भुत सुख सदन, सब्दस अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो, समुझि ग्रन्थ बहु चित्त।।"

आचार्य कवि देव ने काव्य लक्षण देते हुए कहा कि शब्द जीव है, अर्थ मन है तथा रसयुक्त सुयश उसका शरीर है। दोनों प्रकार के छन्द उसकी गति है तथा अलंकार गति की गम्भीरता के व्यंजक हैं। **सूरति मिश्र** ने अपनी रचना 'काव्य सिद्धांत' में काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा कि जिसमें अलौकिक ढंग से मनोरंजनकारी वर्णन रहता है, वही काव्य है।

"बरनन मनरंजन जहाँ, रीति अलौकिक होइ।
निपुण कर्म कवि कौ जु तिहिं काव्य कहत सब कोइ।।"

भिखारीदास का कथन है कि अलंकार, रस, ध्वनि, रीति तथा गुणों से युक्त शब्दार्थ ही काव्य है। इस परिभाषा द्वारा भिखारीदास ने अलंकारवादियों, रसवादियों, ध्वनिवादियों तथा रीतिवादियों का समर्थन कर दिया। यह कोई मौलिक परिभाषा नहीं कही जा सकती।

(ग) आधुनिक हिन्दी विद्वानों का मत

जहाँ तक हिन्दी विद्वानों का प्रश्न है, वे न केवल संस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों से परिचित हैं बल्कि पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों के सिद्धांतों का भी अध्ययन कर चुके हैं। यही कारण है कि इनके द्वारा काव्य के बारे में दी गई परिभाषाएँ काफी मौलिक कही जा सकती हैं, फिर भी कुछ विद्वानों की परिभाषाएँ पाश्चात्य मान्यताओं के अधिक निकट दिखाई देती हैं।

1. **महावीर प्रसाद द्विवेदी**–ये आधुनिक काल के समर्थ आलोचक कहे जा सकते हैं। वे अपनी रचना **'रस रंजन'** में लिखते हैं–**"कविता प्रभावशाली रचना है, जो पाठक या श्रोता के मन पर आनन्दमय प्रभाव डालती है।"** अन्यत्र वे लिखते हैं–**"सादगी, असलियत और जोश आदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है? परंतु बहुधा अच्छी कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। परंतु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।"**
2. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** के अनुसार, **"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती है, उसे कविता कहते हैं।"**
3. **जयशंकर प्रसाद** के अनुसार, **"काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति है जिसका संबंध विश्लेषण विकल्प का विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेम रचना है।"**
4. **श्रीमती महादेवी वर्मा** लिखती हैं, **"कविता कवि-विशेष की भावनाओं का चित्रण है और वह चित्रण इतना ठीक है कि उसमें वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे को हृदय में आविर्भूत होती हैं।"**
5. **केविवर पंत** लिखते हैं कि, **"कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।"** तो **प्रेमचंद** जी लिखते हैं–**"साहित्य या काव्य जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबंध, कहानी या काव्य कोई भी रचना क्यों न हो, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।"**
6. **कवि धूमिल** का कहना है–**"कविता शब्द की अदालत में मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर अदमी का हलफनामा है।"**

(घ) पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य की परिभाषा

काव्य केवल भारतवर्ष का विषय नहीं है, अपितु यह एक सार्वदैशिक विषय है। यही कारण है कि भारत में ही नहीं पाश्चात्य जगत में भी समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने काव्य को परिभाषित कर उसका स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस संदर्भ में कुछ प्रमुख पाश्चात्य विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं–

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार–**"कविता कवि का कार्य है, कला है। (Poetry, Art Work of the Poet) पहले कवि को समझा जाये, तब उसके काव्य को काव्य कहा जाये। कवि के माध्यम से कविता की परिभाषा उचित और स्पष्ट नहीं।"**

प्रसिद्ध कवि **ड्राइडन** का विचार है कि **"कविता सुस्पष्ट संगीत है।" (Poetry is articulate music)** यह परिभाषा सर्वत्र सत्य नहीं। अनेक गीत जो गाये जाते हैं वे सभी काव्य की विशेषताएं नहीं रखते। संगीत कविता का पक्ष है, परन्तु संगीत तत्त्व काव्य का अनिवार्य अंग नहीं। संगीत केवल सुनने की वस्तु है, पर कविता अध्ययन, पठन और मनन से भी आनंद देती है। इसके अतिरिक्त सभी कविताओं में संगीत नहीं रहता। इस परिभाषा को स्वीकार करने पर उन्हें काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत करना होगा। अतः यह परिभाषा उपयुक्त नहीं।

प्रसिद्ध कवि **'कालरिज'** ने लिखा है कि **"सर्वोत्तम शब्द अपने सर्वोत्तम क्रम में कविता होती है।" (Poetry is the best words in their best order)** यहाँ प्रश्न यह है कि सर्वोत्तम शब्द कौन है और उनका सर्वोत्तम क्रम क्या है?

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि **वर्ड्सवर्थ** का विचार है कि **"कविता प्रबल अनुभूतियों का सहज उद्रेक है, जिसका स्रोत शान्ति के समय में स्मृत मनोवेगों से फूटता है।"**

(Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquillity.)

वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) की परिभाषा तथ्यपूर्ण है, क्योंकि यह भावानुभूति और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है। इस लक्षण में भी आपत्ति उठायी जा सकती है। शान्ति के समय में सभी अपने मनोवेगों को स्मरण करते हैं और अपने प्रबल भावों को प्रकट भी करते हैं–क्या वह सब काव्य को जाता है? यहाँ पर अभिव्यक्ति, कला और उसके प्रभाव का उल्लेख ही है। हम अपने सुख-दुःखपूर्ण क्षणों का स्मरण कर हँसते और रोते हैं, पर सभी का वह उल्लास और विलाप कविता नहीं बन जाता। कविता के लिए सहज अभिव्यक्ति में सौन्दर्य, संयम और प्रभाव की आवश्यकता है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि प्रतिभा और अभिव्यक्ति–कौशल से युक्त कवियों की काव्याभिव्यक्ति की प्रक्रिया यहाँ पर अवश्य स्पष्ट हुई है।

इस प्रकार विभिन्न संस्कृताचार्यों, हिन्दी के मध्यकालीन एवं आधुनिक आचार्यों तथा पाश्चात्य आचार्यों के काव्य संबंधी मतों का अवलोकन करने के पश्चात् सहज भाव से कहा जा सकता है कि कोई भी विषय प्रसंग जो लिखित या रिकार्डेड (आज के परिप्रेक्ष्य में) किसी पाठक, श्रोता या दर्शक में आनंद की उत्पत्ति करने उसमें एक अनिर्वचनीय अनुभूति की उत्प्रेरणा करने में सहज समर्थ है, वह सब काव्य है। इस काव्य का स्वरूप संकुचित न होकर विस्तृत तथा जहां यह केवल कविता का परिचायक नहीं अपितु गद्य-पद्य की तमाम विधाओं में समाया हुआ है। इसका स्वरूप सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक है। इसका महत्त्व अक्षुण्ण है तथा यह अनश्वर है। इसका भाव पथ इसकी आत्मा और शिल्प-पथ इसका स्वरूप शरीर है। यह पोखर के पानी की भाँति स्थिर नहीं अपितु बहती नदी की भाँति गतिशील है। इसका उद्देश्य बड़ा व्यापक है।

काव्य के प्रकार–आधुनिक काल में काव्य शब्द भले ही 'कविता' का परिचायक हो गया है, परंतु मूल रूप में यह साहित्य का बोधक है। अतः काव्य के प्रकार को साहित्य के प्रकार के रूप में समझना ही समीचीन है। साहित्य प्रमुखतः निम्नलिखित प्रकारों में वर्गीकृत किया जाता है–

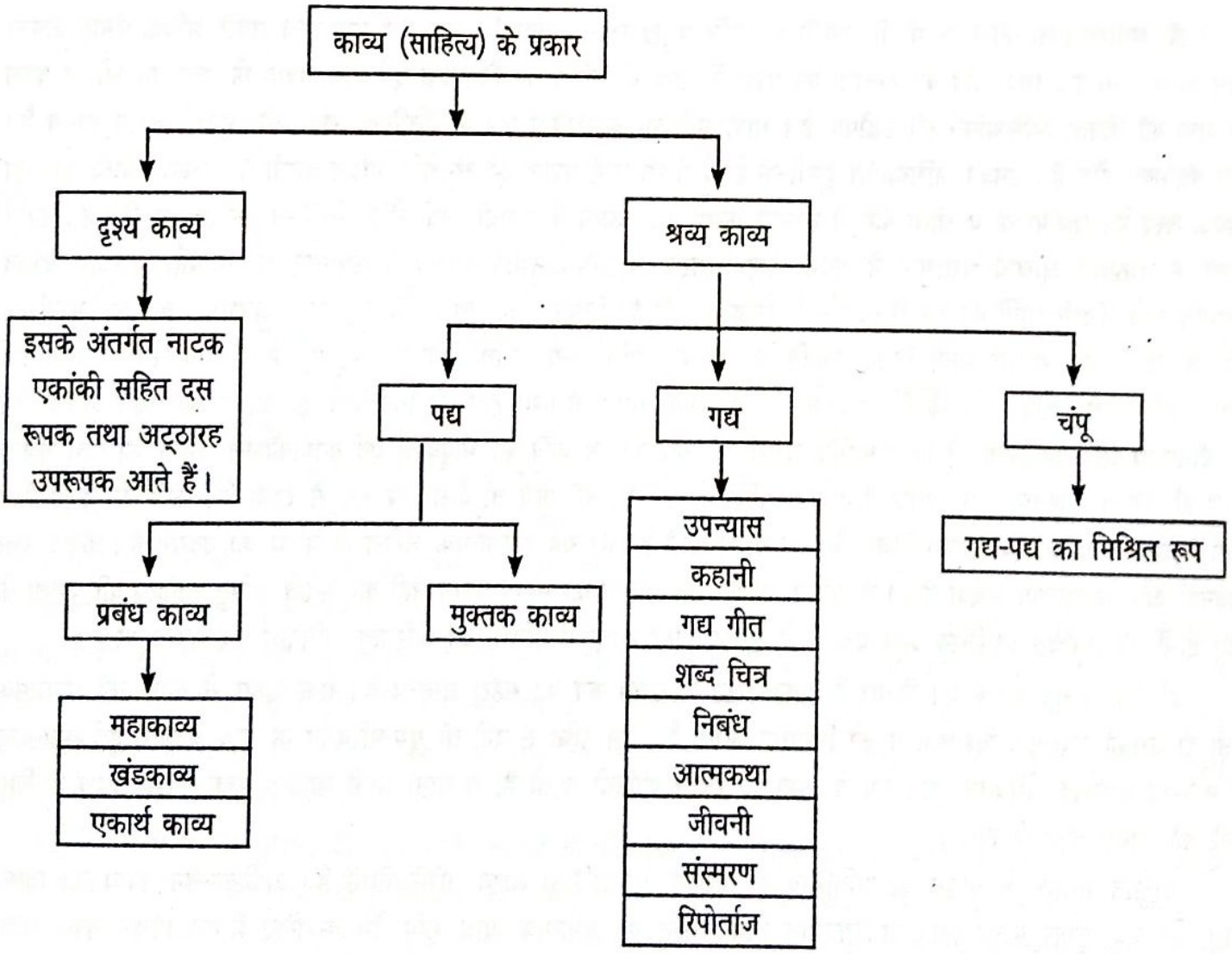

नोट–काव्य के इन प्रकारों का विस्तृत विवेचन काव्य-भेद संबंधी प्रश्न के अंतर्गत आगे किया जाएगा।

◆◆◆

2. काव्य के विभिन्न पक्षों का विवेचन कीजिए।

अथवा

काव्य के कितने पक्ष हैं? काव्य के वस्तु पक्ष एवं शिल्प पक्ष की समीक्षा कीजिए।

उत्तर–काव्य के पक्ष–काव्य के पक्ष को हम काव्य के तत्त्व भी कह सकते हैं जैसा कि काव्य का स्वरूप निर्धारित करते समय स्पष्ट किया गया है। काव्य के दो पक्ष अथवा तत्त्व क्रमशः वस्तु पक्ष एवं शिल्प-पक्ष होते हैं। वस्तु पक्ष को हम भाव तत्त्व तथा शिल्प पक्ष को हम शिल्प तत्त्व भी कहते हैं। भाव पक्ष को बाबू गुलाबराय ने अनुभूति पक्ष शिल्प पक्ष को 'अभिव्यक्ति पक्ष' कहा है–**"काव्य के दो पक्ष हो जाते हैं, एक अनुभूति और दूसरा अभिव्यक्ति। इसी को भाव पक्ष और कला पक्ष भी कहते हैं।"** स्पष्ट है काव्य के वस्तु पक्ष अथवा भाव तत्त्व अथवा अनुभूति का संबंध काव्य के वर्ण्य विषय से होता है तथा शिल्प पक्ष अथवा अभिव्यक्ति पक्ष का संबंध वर्णन कौशल से होता है। बहुत से विद्वान भाव पक्ष को काव्य की आत्मा तथा शिल्प पक्ष को काव्य का शरीर कहकर भी पुकारते हैं।

अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों काव्य के लिए अनिवार्य हैं, किन्तु दोनों का विभाजन बहुत कठिन है। **बाबू गुलाबराय** के अनुसार–**"भाव पक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला-पक्ष का सम्बन्ध आकार या शैली से है। वस्तु और आकार एक-दूसरे से पृथक नहीं हो सकते। कोई वस्तु आकारहीन नहीं हो सकती और न आकार वस्तु से अलग किया जा सकता है।" डॉ. उमाकान्त मालवीय** के शब्दों में–**"भावपक्ष और शिल्पकक्ष में निश्चय ही आत्मा और शरीर का सम्बन्ध है। पहला साध्य है, तो दूसरा साधन।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** भी भावों को ही प्रमुखता देते हैं–**"काव्य का लक्ष्य भावों के उपयुक्त विषयों को सामने रखकर सृष्टि के नाना रूपों के साथ मानव हृदय का सामंजस्य स्थापित करना है।"** भाव ही कर्म के मूल प्रवर्तक तथा शील के संस्थापक है।

डॉ. भगीरथ मिश्र की दृष्टि में भी भाव तत्त्व अपना प्रमुख स्थान रखता है–**"काव्य में भाव तत्त्व सबसे अधिक प्रभाव उत्पन्न करने वाला होता है। भाव कवि की कल्पना का प्रेरक हैं, छन्द के स्वरूप का विधायक एवं शब्द प्रवाह के उत्स को खोलने वाला है। भाव की तीव्रता अभिव्यक्ति की उद्दीपक है। भाव, मनोवेगों के संस्कार रूप में प्रतिष्ठित, स्मृत और पुनः अनुभूत स्वरूप है। भाव संक्रामक होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति दूसरों के हृदय में भी उसी प्रकार की अनुभूति जाग्रत करती है। 'भाव, काव्य का बड़ा व्यापक तत्त्व है। यह पाठक व श्रोता का भी संस्कार करता है।"** काव्य के स्थायी भावों से ही विभिन्न रस उत्पन्न होते हैं। काव्य शास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र' में विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रस निष्पतिः कहकर विभाव अनुभाव तथा संचारी भावों की रस से अभिन्नता सिद्ध कर दी है। विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) अनुभाव (कायिक, मानसिक और सात्विक) तथा संचारी भावों निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, घृति, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरणं मद निद्रा आदि से पुष्ट होकर रस किसी भी काव्य को प्राणवान बनाने के लिए रसों की विविधता का कारण आलम्बन वैविध्य है। **डॉ. दीनानाथ सिंह** का विचार है कि **"मार्मिक प्रसंगों की संयोजना से कवि की भावुकता एवं काव्यकौशल क्षमता का पता चलता है।" डॉ. किश्वर सुल्ताना** का विचार है–**"कला-सृष्टि में अनुभूति का योग तो असंदिग्ध रूप से रहता है। कवि के अन्तर्निहित सूक्ष्म क्रियात्मक कौशल के कारण विचार आकार ग्रहण करते हैं और यह सर्जनात्मक शक्ति ही काव्य का उद्गम है। केवल उच्च भावनाएँ और अनुभूतियाँ अथवा केवल कलात्मक कौशल ही साहित्य को महत्त्व प्रदान नहीं कर सकते अपितु साहित्य की पूर्णता के लिए दोनों का समुचित सामंजस्य आवश्यक है।"** सुन्दर काव्य रचना में प्रतिभा का अस्तित्व अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण है।

डॉ. जितेन्द्रनाथ पाठक का विचार है–**"काव्यवस्तु से काव्य रूप का गहरा सम्बन्ध है। एक प्रकार से काव्य की भावात्मक सत्ता ही उसकी रूपात्मक विशेषताओं को निर्धारित करती है। इस दृष्टि से देखे तो युग-परिवर्तन के साथ बदलती हुई भाव-वस्तु के नये-नये रुपात्मक परिवर्तन हुए। रूप या भाव की भिन्न कोटियों न तो हैं, न मानी जानी चाहिए। एक के विश्लेषण के लिए दूसरे को आधार लेना ही होगा।"**

संस्कृति समाज के मानस का प्रतिबिम्ब है जिसकी आधारशिला बाह्य परिस्थितियाँ है। आदिकालीन काव्य का विषय वस्तु वीर एवं श्रृंगार परक रहा। आदिकालीन विषय वस्तु को रुपात्मक भाव भूमि देने के लिए डिंगल पिंगल युक्त भाषा सर्वाधिक उपयुक्त सिद्ध हुई। भक्ति युग की भावाभिव्यक्ति को सार्थवाह बनाने का श्रेय भक्ति आंदोलन को जाता है। निश्चित रूप से दक्षिण भारत के भक्ति मत के आचार्यों के उत्तर भारत की ओर आने तथा यहाँ पहले से मौजूद शैव-वैष्णव एवं जैन-बौद्ध काव्य धाराओं की भक्ति के खण्ड-खण्ड सरोवरों से दक्षिणात्य भक्ति तरंगों से मिलकर भारतव्यापी तरंगिणी बनकर लहराने को ही

लाखों पदों के सृजन का श्रेय दिया जा सकता है। कृष्ण भक्ति हो अथवा रामभक्ति, निर्गुण भक्ति हो अथवा सगुण भक्ति सबके पीछे भगवान की लीला की लोकरंजिनी एवं लोकरक्षिणी शक्ति में वह अमोघ विश्वास ही था जो सहस्त्र-सहस्त्र पदों में फूट पड़ा था। हिन्दी साहित्य का इतिहास साक्षी है कि युग परिवर्तन के साथ ही काव्य के वस्तु पक्ष के अनुरूप शिल्प पक्ष में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। सम्भवतः यह परिवर्तन युगबोध के अनुरूप है।

राजनीतिक परिवर्तन साहित्य में चेतनागत परिवर्तन उपस्थित करते हैं। चेतनागत परिवर्तन काव्य वस्तु और काव्य रूपगत परिवर्तन को सम्भव बनाते हैं। **डॉ. जितेन्द्रनाथ पाठक** का मत है–**"उत्कर्षोन्मुख मुगल शासन भक्तिकाल है और पतनोन्मुख मुगल शासन रीतिकाल है। जहाँ भक्ति काल के कवियों ने ईश्वर लीला आध्यात्म को विषय वस्तु बनाया वहीं रीतिकाल के कवियों ने शृंगार की लिजलिजी भावुकता को प्रश्रय दिया।"** भक्तिकालीन कवियों को दोहा, सवैया, चौपाई, प्रधान 'कड़वक छन्द, शैली अपनाया वहीं रीतिकालीन कवियों को सवैया, दोहा छन्द अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ।

भारत वर्ष ही नहीं विश्व का कोई भी देश हजारों वर्षों के इतिहास में उस देश के जनमानस को विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों से होकर गुजरना पड़ता है। विभिन्न आक्रमणकारियों के साथ वैचारिक एवं सांस्कृतिक समन्वय स्थापित करना पड़ता है। इससे साहित्य के विविध अंग भी प्रभावित होते रहते हैं। आधुनिक हिन्दी काल का वर्गीकरण उसके विषय वस्तु की भिन्नता को ध्यान में रखकर ही किया गया–

1.	भारतेन्दु युग	–	संक्रान्ति युग
2.	द्विवेदी युग	–	पुनरुत्थान युग
3.	छायावाद युग	–	विद्रोह युग
4.	छायावादोत्तर युग	–	क्रांति युग

छायावादोत्तर युग की क्रांतिधर्मिता कभी भाव बोध के स्तर पर तो कभी रुप बोध के स्तर पर बराबर करवटें बदलती रही। यह आंदोलन धर्मिता ही छायावादोत्तर कविता की खास पहचान है।

1850 से 1900 के साहित्य को सांस्कृतिक संक्राति की छाया के रूप में देखा गया है। युगीन संवेदना से प्रभावित होते हुए भी भारतेन्दु युग के कवियों ने परंपरागत पद्धति की काव्य-सर्जना की है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए **डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय** ने लिखा है कि–**"भारतेन्दु की काव्य चेतना भारतीय नवोत्थान की भावना के समान, द्विमुखी थी–एक मुख अतीत की ओर था, तो दूसरा भविष्य की ओर।"** अंग्रेजी के शिक्षा के माध्यम बनने और संचार-साधनों के वैज्ञानिक आविष्कारों के तीव्र हो जाने, छापेखाने के आविष्कार और बड़ी संख्या में पुस्तकों के प्रकाशन और पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार-प्रसार से सांस्कृतिक संक्रान्ति सुफल लोकतांत्रिक चेतना स्वतंत्रता एवं समानता की अवगति के रूप में दिखलाई पड़े। बौद्धिकता और विरोध के रूप में आधुनिकता का प्रभाव बढ़ा। जहाँ सामाजिक और सांस्कृतिक सोच के फलस्वरूप रुढ़ियाँ बहिष्कृत होने लगी, वहीं तत्कालीन भारतीय मानस में नवजागरणकालीन आंदोलन आमूलचूल परिवर्तन करने में लग गया। कम से कम पढ़े लिखे समझदार तबके तक का प्रभाव भी साहित्य पर पड़ा। खड़ी बोली के काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृत होते ही यह प्रश्न चुनौतीपूर्ण हो गया। इस युग के सभी कवि-लेखक नवजागरण कालीन जीवन-मूल्यों के पक्षधर के रूप में अपनी रचनाओं के साथ खड्गहस्त दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु वे खड़ी बोली में काव्य-रचना का शुभारम्भ करते हुए भी खड़ी-बोली को काव्य-भाषा के लिए अनुपयुक्त और ब्रज भाषा को काव्यरचना के उपयुक्त मानते रहते हैं। **डॉ. दुर्गा प्रसाद ओझा** लिखते हैं–**"उस युग की प्रमुख काव्य-भाषा ब्रज भाषा थी खड़ी बोली का प्रचार गद्य तक ही सीमित रहा।"** भारतेन्दु जी के दिवंगत होते ही उनके मण्डल के प्रताप नारायण मिश्र जैसे कवि लेखकों और अयोध्या प्रसाद खत्री तथा श्रीधर पाठक जैसे कवि लेखकों में कुछ दिनों तक **ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली के रूप में वाद-विवाद** का चक्र चलता रहा, किन्तु इतिहास का तर्क खड़ी बोली के पक्ष में होने के कारण, अन्ततः खड़ी बोली को काव्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

द्विवेदी युग में समाज सुधार, देश प्रेम, जर्जर रुढ़ियों के प्रति विद्रोह, उपेक्षिता नारी को मानवीय सम्मान, शोषित समाज के प्रति करुणा को काव्य का विषय वस्तु बनाया। सब विषय काव्योपयुक्त हो सकते हैं। अपना-अपना मत प्रकाशन करने की सबको स्वतंत्रता है, इस प्रकार के मत का प्रचार तो भारतेन्दु – काल में ही हो गया था। परन्तु फिर भी भारतेन्दु कालीन कविता के विषय सीमित ही रहे। इस युग में आकर ही उपर्युक्त मत व्यवहार में परिणत हुआ। गद्य और पद्य की भाषा का एकीकरण इस युग में हुआ। पुनरुत्थान की प्रक्रिया में कविता मर्यादावाद और सुधारवाद में उलझकर इतिवृत्तात्मक भूमि पर संचरण करने लगती है।

अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा ने जिन्हें स्वच्छन्दतावादी काव्य का उन्मुक्त क्षितिज प्रदान किया और प्रतिबन्धों भरे सामाजिक जीवन और पराधीनता की जकड़ से मुक्त करके खुली हवा और निर्बन्ध प्रकृति के बीच जीने के लिए मार्ग दिया था। महात्मा गाँधी के देशव्यापी अहिंसात्मक सत्याग्रह आंदोलनों की सफलताओं तथा विफलताओं ने इन कवियों में कभी शक्ति का संचार किया तो कभी नैराश्य की लहरें पैदा कीं।

छायावादी काव्यान्दोलन ने चार सौ वर्षों की धार्मिक स्थूलता एवं अलंकृत शृंगारिकता और अकाव्योपयोगी पुनरुत्थानमूलक आदर्शवाद के बंधन को तोड़कर जिस छायावादी रहस्यवादी काव्य प्रसाद का निर्माण किया, वह न तो उसके पूर्व दिखलाई पड़ा था न उसके बाद। डॉ. दुर्गा प्रसाद के अनुसार, **"छायावादी काव्य धारा में द्विवेदी युगीन सामाजिक नैतिकता मूलक जीवन-मर्यादा के विपरीत व्यक्ति-स्वातन्त्रय को महत्व दिया गया। आदर्श चरित्रों के स्थान पर सहज मानवीय दुर्बलताओं से युक्त पात्रों की अवतारणा हुई।"** छायावादी कवि ने व्यक्तिरोधी सामाजिकता का बहिष्कार करके पहले तो निर्जन प्रकृति में आश्रय लिया, फिर धीरे-धीरे शक्ति संचय करके समाज में आकर रुढ़ियों के प्रति अपने वैयक्तिक विद्रोह का उद्घोष किया। छायावादी कवि ने अपनी दुर्बलताओं को भी साहस के साथ अभिव्यक्ति किया और जिन बातों को अब तक लोग समाज के भय से छिपाते थे, उन्हें भी उसने खोलकर सबके सामने रख दिया। इस तरह आत्मकथा उनका विषय हो गया और मैं, उनकी शैली। निराला ने स्पष्ट स्वीकार किया कि 'मैंने मैं की शैली अपनाई'।

रूप विधान की दृष्टि से भी इस युग की कविता भावनात्मक विद्रोह की तरह पर्याप्त विद्रोहधर्मी थी जिसके फलस्वरूप नाना प्रकार के काव्य-रूपों की अवतारणा के साथ-साथ अभिव्यंजना के स्तर पर भी अनेकानेक प्रयोग हुए। शिवनन्दन प्रसाद का विचार है–**"छायावाद ईसाई सन्तों या रवीन्द्र की कविताओं या अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों की नकल नहीं, वह मात्र द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक शैली की प्रतिक्रिया भी नहीं। वह देश के तद्युगीन सामाजिक जीवन और उसकी परिस्थितियों की युग की काव्य चेतना पर प्रतिक्रिया है।"**

छायावादी काव्यान्दोलन का पूर्वार्द्ध काल्पनिक और भावात्मक विद्रोह का काल था–रीतिकाल एवं द्विवेदी युग की शृंगारिक रसिकता और भोगवाद, स्थूलता और इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध। यह विद्रोह सूक्ष्मता के आग्रह के कारण कवि की अतीन्द्रिय वायवी और स्वप्निल कल्पना – लोकों तक ले गया और कविता **'कल्पना के कानन की रानी, बनकर रह गयी।'** इनका चिन्तन पक्ष रहस्यात्मक अनुभूतियों और वस्तुजगत के अभावों और पीड़ाओं की क्षतिपूर्ति अतीत के सुख-स्वप्नों और भविष्य की कल्पित सृष्टियों तक सीमित था। निश्चत ही छायावाद का सम्पूर्ण काव्य-वैभव चाहे वह विषय-वस्तु हो या शिल्पविधान बदली हुई परिस्थितियों का ही प्रतिफल रहा जो इसके कवियों के माध्यम से कृतियों में रुपाकार हुई। शिल्प के क्षेत्र में मानवीकरण का प्रयोग बदलते युग का छायावादी कवियों के मानस-पटल पर पड़ने वाली प्रतिक्रिया का ही प्रभाव है। निःसन्देह देश की राजनीतिक प्रगति और स्वतंत्रता संग्राम के बदलते स्वरुप के अनुसार काव्यगत विद्रोह का स्वरूप भी बदलता रहा।

छायावादोत्तर युग छायावाद के अंतविरोधों का प्रतिफलन है। व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत विवेचित साहित्य में उस युग के कवि के अहंवाद का लक्षित किया गया है और रेखांकित किया गया है कि व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावादी युग में नारी को लेकर व्यक्तिगत जीवन की यौनाकांक्षाओं, उतप्त रुधिर-धर्मी वासनाओं तथा अपने भीतर की कुंठाओं की कहानी कविकर्म हो गया था। इस युग की कविता में तीन प्रकार की प्रवृतियाँ मिलती हैं–आत्मरति, आत्मप्रशंसा और मिथ्या आत्म विश्वास। दूसरे, व्यक्तिगत जीवन में नकारात्मक भावबोध का शिकार होना। तीसरे, मधुचर्यामूलक उत्सवधर्मी कविताओं द्वारा क्षयी रोमांस की सृष्टि करना। भगवती चरण वर्मा, बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, नेपाली आदि ने इस प्रकार की प्रभूत रचनाएँ की हैं। इन कवियों का इतना महत्व अवश्य है कि इन्होंने छायावादी टकसाली पदावली और काल्पनिक ऊँचाइयों से कविता को मुक्त कर आम जन की भाषा और व्यक्ति के जीवन की सहज-सामान्य संवेदनाओं से जोड़ा। इस प्रकार से इनकी रचनाओं की विषय-वस्तु ने भी नयी कविता के लिए भाषिक एवं छांदसिक अभिव्यक्ति की विरासत छोड़ी। इस काव्य धारा के सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र का मत है कि–**"वास्तव में छायावाद के मूल से आविर्भूत इस धारा ने 'प्रगतिवाद' के लिए पथ प्रशस्त किया। इस प्रकार यह प्रवृत्ति प्रगतिवाद की अग्रजा और छायावाद की अनुजा है।"**

मानवतावादी दृष्टिकोण वाली वस्तु तत्त्व साहित्य जगत में प्रगतिवाद काव्य के रूप में जाना जाता है। कला का शिल्प उसके वक्तव्य विषय के अनुसार होता है। प्रगतिवादी कविता चूंकि सामाजिक जीवन की वास्तविकता को लेकर चली, जनता तक पहुँचाना और जनता के जीवन की ही बात करना उसका लक्ष्य रहा, इसीलिए वह छायावाद की वायवी, असामान्य, रेशमी परिधान प्रतीक, बिम्ब, शब्द, मुहावरे, चित्र सभी जन-जीवन के बीच से लिए। इसीलिए एक बहुत ही जीवन्त भाषा का उदय हुआ

जैसे रंगीन कुहासे को तोड़कर विषम यथार्थ धरातल उभर उठा हो। उसमें अविधा की प्रधानता हो गयी। **डॉ. नामवर सिंह** का विचार है–**"प्रगतिवादी हिन्दी काव्यधारा स्वस्थ सामाजिक भावभूमि और उच्चविचार के विकास का इतिहास है।"** **डॉ. नगेन्द्र** का मत है–**"व्यक्तिवादी बन्द कमरे से निकालकर जन-जीवन के बीच प्रवाहित कर दिया, जीवन और साहित्य के मूल्य, सौन्दर्य-बोध और लक्ष्य को समाज के यथार्थ और उसकी रचना से जोड़ा भाषा के कुहरे से निकालकर धरातल पर प्रतिष्ठित किया।"**

साहित्य की अगली धारा जिसे प्रयोगवाद नाम दिया गया। व्यक्ति को केन्द्र बनाकर कविता को प्रयोग वैचित्र्य के स्तर पर ग्रहण करने का अभ्यासी रहा। प्रायः सप्तक के सभी कवि अभिव्यक्ति के माध्यम के मामले में **'राहों के अन्वेषी', थे।'** **डॉ. शम्भुनाथ चतुर्वेदी** का कहना है कि–**"भाव-धारा की दृष्टि से भी 'तारसप्तक' में दो प्रकार के प्रयास हैं। एक ओर जहाँ सामाजिक यथार्थ का मोह 'तारसप्तक' के कवियों में मिलता है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति-चेतना का आग्रह भी शिथिल नहीं है।"** ये कवि मध्यवर्गीय व्यक्ति-जीवन की समस्त जड़ता, कुण्ठा, अनास्था, पराजय और मानसिक संघर्ष के सत्य को बड़ी बौद्धिकता के साथ उद्घाटित करते हैं। इन कवियों ने कल्पना का रंगीन आवरण हटाकर दमित यौन-वासनाओं के नग्न रूप को स्पष्ट कर दिया। इन कवियों ने कहीं स्पष्ट रूप से और कहीं बारीक प्रतीकों तथा बिम्बों के माध्यम से दमित काम-वासनाओं और उलझी संवेदनाओं को रूपायित किया। रूप शिल्प की दृष्टि से छायावाद से प्रारम्भ हुई छन्द-स्वातंत्र की यात्रा यहाँ तक लयता के बंध को स्वीकार करती हुई चलती है। 'तारसप्तक' की मुक्तछान्दिक प्रायः सभी कविताओं में लय का निर्वाह मिलता है।

आज की क्षणवादी और लघु-मानववादी दृष्टि जीवन मूल्यों के प्रति नकारात्मक नहीं स्वीकारात्मक दृष्टि है। नई कविता में बुद्धिवाद नवीन यथार्थवादी दृष्टि के रूप में भी है और नवीन जीवन चेतना की पहचान के रूप में भी। नयी कविता बने-बनाये मूल्यवादी नुस्खे नहीं पेश करती, वह तो उसे जीवन की सच्ची व्यथा के भीतर पाना चाहती है। इसीलिए नई कविता में व्यंग्य के रूप में कहीं पुराने मूल्यों की अस्वीकृति है, तो कहीं दर्द की सच्चाई के भीतर से उगते हुए नये मूल्यों की सम्भावना के प्रति आस्था।

नई कविता वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से अपने चरम तक पहुँचकर उतार की ओर ढुलकने लगी। सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में 'किसिम-किसिम' की कविता के आंदोलन शुरू हो गये। अकविता, सचतेन कविता के रूप में नयी कविता के विरोध सामने आये। धीरे-धीरे नयी कविता के वस्तु शिल्प ने करवट बदला और कुछ बदले हुए वस्तु शिल्प के साथ काव्य के क्षेत्र में समकालीन कविता का दौर आया।

विषय के स्पष्टीकरण के लिए शिल्प तत्त्व का अलग एवं विस्तृत विवेचन किया जा रहा है क्योंकि रचना के शिल्प का सम्बन्ध अनुभूति से हाता है जो स्वयं में एक प्रवंचक संज्ञा है। प्रवंचक इस अर्थ में कि उसे ईमानदारी से पकड़ पाना और रचना में उसे ढाल देना स्वयं रचनाकार के लिए एक चुनौती है। अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का सम्बन्ध कवि-कर्म से होता है। **मलयज** ने इसका संकेत देते हुए लिखा है–**"भाषा के भीतर जो अनुभूति है, भाषा के बाहर वही कर्म है। कविता इन दोनों की संधि पर है। कविता सच्ची बनती है, भाषा के भीतर की अनुभूति से और बड़ी बनती है भाषा के बाहर के कर्म से।"** स्पष्ट है कि कवि-कर्म की दिशा अनुभूति से ही सार्थकता ग्रहण करती है।

शिल्प पक्ष का विवेचन

काव्य विवेचन के अन्तर्गत 'शिल्प', शब्द से तात्पर्य काव्य-शिल्प से होता है। अंग्रेजी का **'टेकनिक'** शब्द शिल्प के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु विज्ञान-क्षेत्र में शिल्प का जो तात्पर्य है वही काव्य-क्षेत्र में नहीं है। काव्य-शिल्प अत्यन्त व्यापक अर्थ में गृहीत होता है। विज्ञान में **'शिल्प'** या 'टेकनीक', का अर्थ किन्हीं विशिष्ट तथ्यगत उपलब्धि से होता है। काव्य में शिल्प विशिष्ट तथ्यों पर आधारित न होकर शिल्पी की मौलिकता और उसकी कल्पना पर आधारित होता है। शिल्प सम्बन्धी पूर्व नियमों से अवगत होते हुए भी कवि सदैव उन्हीं का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। कल्पना की उर्वरा शक्ति के द्वारा वह अपनी प्रत्येक कृति में नवीन प्रयोग भी कर सकता है जबकि वैज्ञानिक पूर्व निश्चित नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। विज्ञान के क्षेत्र में शिल्प और कला के क्षेत्र में शिल्प का यही मुख्य अन्तर है। **डॉ. कैलाश वाजपेयी** का मत है–**"काव्य के रूप तथा वस्तु दोनों तत्त्वों में निहित होने के कारण शिल्प, शब्द को अधिक व्यापक अर्थों में ग्रहण किया जाता है। काव्य कृति के निर्माण में जिन उपादानों द्वारा काव्य का ढाँचा तैयार किया जाता है वे सब काव्य के शिल्प तत्त्व कहे जाते हैं।"** इन उपादानों के अन्तर्गत मुख्य रूप से काव्य कला, काव्य शैली, काव्यविधि, काव्यरीति, काव्यविधान आदि सभी समाहित हो जाते हैं। अलंकार, छन्द, रस, भाषा, बिम्ब, कल्पना, अप्रस्तुत विधान आदि इन्हीं उपादानों के अंग हैं जिनका प्रयोग कवि अपनी अमूर्त भावनाओं के मूर्त विधान तथा अभिव्यंजना के सौन्दर्य एवं शक्ति संवर्द्धन के लिए करता है।

जब कलाकार अपने काव्य-सम्बन्धी ज्ञान की सहायता से कलाकृति का निर्माण करता है तो उसकी रचना उसके रचनाशिल्प सहित हमारे सामने प्रस्तुत होती है। काव्य विधान के संदर्भ में इसका अर्थ हुआ रचना करने की विधि से लेकर उसके गुण-दोष का विधिवत ज्ञान और इस ज्ञान का साक्षात मूर्तिकरण अथवा प्रकाशन काव्य-शिल्प है। दूसरे शब्दों में, विधान को मूर्त करने का प्रयास ही काव्य शिल्प है। इस शिल्प का आकलन रचना में विद्यमान सौन्दर्य के आधार पर किया जा सकता है। डॉ. किश्वर सुल्ताना का मत है–**"शिल्प-विधि रचना कैसी है के 'रचना ऐसी का उत्तर रती है। कारण शिल्प के द्वारा ही कवि अपनी कविता को दोषमुक्त रख सकता है।"**

शिल्प केवल शिल्पकार के लिए ही आवश्यक है अथवा इससे केवल उसकी उत्कृष्टता या निकृष्टता का बोध होता है–ऐसा नहीं है, पाठक और श्रोता भी इससे लाभान्वित होते हैं। काव्य संगीतपूर्ण शब्दों का चमत्कार है। काव्य-विधान से अपरिचित व्यक्ति काव्य-शिल्प का मूल्यांकन करने में सर्वथा असमर्थ होगा। काव्य-पाठ उसके लिए कोई अर्थ नहीं रखता। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की कथा उसे चाहे पद्य में सुनायी जाये या गद्य में उसके लिए समान है। किस शब्द को कहाँ रखने में सौन्दर्य वृद्धि होगी–यह कवि के उत्कृष्ट शिल्प का परिचायक होगा और उन विशेष शब्दों से काव्य में क्या लालित्य आ गया यह जानने वाला सहृदय उसका रसास्वादन करेगा। इसलिए काव्य शिल्प का ज्ञान कवि के साथ ही पाठक के लिए भी आवश्यक है। पाठक को इससे दृष्टि सूक्ष्मता और कवि को कुशलता प्राप्त होती है।

कला आकाश की भाँति असीम है और शिल्प घटाकाश की भाँति ससीम। काव्य, संगीत-चित्र आदि को हम कला प्रकाशन के साधन कह सकते हैं कला नहीं, क्योंकि कला पूर्णत्व का प्रतीक है। कला-विधान के अन्तर्गत वे प्रारम्भिक नियम है जिनकी सहायता से कलाकार अपनी कला का प्रकाशन करने में समर्थ होता है। कला-शिल्प पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयास है। अर्थात् विधान की प्रक्रिया शिल्प का प्रस्तुतीकरण करती है। किसी कवि की रचना पूर्णत्व का प्रकाशन होता है, यही उसका काव्य शिल्प है और जिस ढंग से वह अपने प्रयास में प्रवृत्त होता है वह उसकी काव्य-शैली है। शिल्प और शैली में यही सूक्ष्म अन्तर है। शैली शिल्प का एक विधान है। शैली में आयाम विशेष का भाव होता है जबकि शिल्प में सम्पूर्णता का।

शिल्प पद्य के विविध आयाम

शिल्प पद्य के विविध आयाम निम्नलिखित हैं–

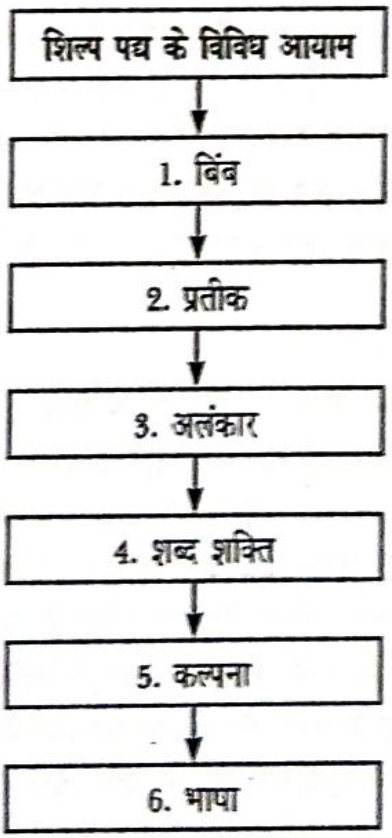

1. बिंब–बिम्ब एक प्रकार से कवि की कल्पना की 'छाया' 'प्रतिछाया' प्रतिकृति है या फिर 'अनुकृति' है। इसे इन्द्रियजनित संवेदना की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति भी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बिम्ब वह शब्द चित्र है जो कल्पना द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार पर निर्मित होता है। अंग्रेजी 'इमेज' शब्द का पर्याय है बिम्ब और कोशगत अर्थ है प्रतिमा, मूर्ति,

प्रतिकृति बिम्ब, प्रतिबिम्ब, छाया, प्रतिछाया विश्वकोश के अनुसार–**"बिम्ब चेतन स्मृतियाँ जो मौलिक उत्तेजना के अभाव में उस विचार को सम्पूर्ण या आंशिक रूप में प्रस्तुत करती है।"** डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार, **"बिम्बों के द्वारा कवि वस्तु, घटना, व्यापार गुण, विशेषता, विचार आदि साकार तथा निराकार पदार्थ और मानस क्रियाओं को प्रत्यक्ष बनाता है।"** आचार्य शुक्ल भी बिंब को नितान्त दृश्य मानने के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है : **"काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब या 'मूर्त भावना' उपस्थित करना।"** केवल उसका बोध होना चाहिए। **डॉ. केदारनाथ सिंह** के अनुसार–**"बिम्ब वास्तविकता के विभिन्न स्तरों तक पहुँचने का एक नितान्त व्यक्तिगत और आत्मपरक मार्ग है।"**

कालान्तर में बिम्ब 'वाद' के रूप में प्रचलित हुआ। **सेलिल डे लेविस** के शब्दों में, **"बिम्ब ऐसा शब्द चित्र है जिसें ऐन्द्रिय विशेषताओं का योग होता है।"** **जे.टी.शिपले** के अनुसार, **"ऐन्द्रिय प्रभाव को उद्‌बुद्ध करने वाली अभिव्यक्ति को बिंब कहा जाता है।"** **रिचर्डस** ने लिखा है, **"संवेदनात्मक पक्ष को बिम्ब के विवेचन में आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि बिम्ब को जो तत्व प्रभावोत्पादक बनाता है, वह उसकी विविधता नहीं अपितु मानसिक घटना के रूप में उसकी वह विशेषता है जो उसे संवेदन से सम्बद्ध करती है।"** बिम्ब में एक टटकापन निहित होता है। इसलिए यह नवीन सामग्री से ही हमें परिचित नहीं करता अपितु पाठक में भावोन्नयन का कार्य भी सफलता से सम्पादित करता है।

2. प्रतीक–आदिम युग की भाषाविहीन संस्कृति में अभिनय एवं अंग विक्षेप द्वारा भावों अथवा विचारों का प्रकाशन होता है। कालान्तर में प्रतीकीकरण की इसी पद्धति से भाषा और लिपि विकसित हुई। भाषा स्वयं एक प्रतीक है। किसी समरुप शब्द की सहायता से जब किसी प्रच्छन्न विषय का प्रतिविधान किया जाता है तो इसे प्रतीकीकरण कहते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज समीक्षक **सी.डाई. लेविस** के अनुसार, **"प्रतीक में अंकों की सी निश्चितता होती है और कहने से केवल उसी भाव अथवा विचार का प्रतिनिधित्व करता है जिसके लिए वह लाया गया होता है।"** प्रतीक दृश्य है जो साहचर्य के आधार पर अदृश्य अथवा अप्रस्तुत को संकेतिक करता है। पक्षियों के कलरव नित्य सुनने में साधारण लगते हैं। जबकि **डॉन एलेन** की मान्यता है कि **"धरा और स्वर्ग के बीच स्वच्छन्द विचरण करने वाले इन विहगों की स्वर लहरी ब्रम्हाण्ड के रहस्य संकेतिक करती है।"** **जोसफ टी शिपली** के मतानुसार, **"प्रत्येक कला की एक भाषा होती है और प्रत्येक कलाकार केवल आने निर्मित प्रतीक ही प्रस्तुत करता है।"** चेतना के गहन स्तरों पर अनुभूत अनिर्वचनीय भाव तथा संवेदनाओं को जैसे ही कोई रचनाकार मूर्त व स्थायी रूप देना चाहता है तो सर्वप्रथम सीमित शब्द का अनन्त अर्थ विस्तार करता है और यह प्रक्रिया ही प्रतीकत्व को जन्म देती है। **डॉ. अर्चना श्रीवास्तव** के अनुसार, **"प्रतीक में बौद्धिकता का पुट अधिक होता है। प्रतीक की सहायता से कल्पना को अधिक सूक्ष्म, संक्षिप्त तथा सौन्दर्ययुक्त बनाया जा सकता है।"** प्रतीक के माध्यम से कवि नवीन भाषा की सृष्टि करता है तथा ध्वनि, सुगन्ध की सूक्ष्मतम विचित्र अनुभूतियों एवं रूप का स्पष्टीकरण भी होता है।

कविता में प्रतीक कविता की जटिल सृजन-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। प्रतीक-विधान के अन्तर्गत दो बातों पर विशेष बल दिया जाता है–**एक** तो अनुभूतियों संवेदनाओं के बीच चयन प्रक्रिया का ज्ञान, **दूसरी** इन अनुभूतियों को प्रभावित करने वाली सांकेतिक वस्तु का चयन। अभिप्रेत वस्तु भाव या अर्थ के संकेत के लिए रचनाकार प्रतीकों का चयन करता है।

बिम्ब और प्रतीक में स्पष्ट अन्तर यह है कि प्रतीक बिम्ब नहीं बन सकते किन्तु कोई बिम्ब बार-बार दोहराये जाने से प्रतीक बन जाता है।

भारतीय दृष्टिकोण से प्रतीक को साध्यवसाना लक्षणा का एक विकसित रूप स्वीकारा जा सकता है। मिथक और प्रतीक में यह अन्तर है कि मिथक का निर्माण जहां मन अचेतन अंश से प्रेरित है, वहाँ प्रतीक के निर्माण में चेतन अचेतन सहयोग अपेक्षित होता है।

3. अलंकार–सामान्य तथ्य अलंकारों से विभूषित होकर एक विशेष मनोहरता से सम्पन हो जाता है। अतः अलंकार साधारण कथन न होकर चमत्कारपूर्ण उक्ति है। **डॉ. भगीरथ मिश्र** के अनुसार–**"अलंकार कथन की ललित भंगिमा है।"** जिस उक्ति में कोई बाँकापन मिलता है, वही उक्ति अलंकार है। संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार पर विस्तृत विवेचन हुआ है। अलंकारवादी प्राचीन आचार्य भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट आदि ने काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य को अलंकार माना है। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में अलंकार-निरुपण का केवल निक्षेप हुआ था। उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा भामह से आरम्भ हुई और दण्डी, उद्‌भट, रुद्रट और प्रतीहारेन्दुराज द्वारा उसका अनुसरण हुआ। **'चन्द्रालोककार'** जयदेव ने **'अलंकार-विधान'** की नयी और समर्थ व्याख्या प्रस्तुत की जिसको बाद के विचारकों ने प्रायः स्वीकार कर लिया। आनन्दवर्धन के पहले तक अलंकार–मत का बड़ा जोर था और उन्हीं के प्रयत्नों से,

बाद की समीक्षा में अलंकार-विधान को रस-निष्पत्ति के एक साधन के रूप में स्वीकार किया गया और आचार्य शुक्ल तक
विचार ज्यों का त्यों मान्य रहा। जहाँ तक अलंकार के स्वरूप-निर्धारण और परिभाषा का प्रश्न है, दण्डी का कथन इस दृष्टि
सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जा सकता है। उनके अनुसार–**"काव्य का शोभाकार धर्म ही अलंकार है।"**

"काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।" (काव्यादर्श–)

धर्म कहकर दण्डी ने अलंकार के सूक्ष्म तथा मूर्त दोनों रूपों का संकेत दे दिया है। चन्द्रालोककार ने **"अलंका
विहीन काव्य को उष्णता-रहित अग्नि की उपाधि दी है।"**

"असौ न मन्यते कस्माद्नुष्णमनलंकृती"

चन्द्रालोकार जयदेव से प्रभावित हिन्दी के आचार्यों में, केशवदास की उक्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है :

"भूषन बिन न विराजई कविता, वनिता मित्त।"

इसके विपरीत आचार्यों का एक दूसरा वर्ग भी रहा है जो अलंकार को काव्य का अनिवार्य धर्म न मानकर, उसे रसोत्क
का अनित्य साधन-मात्र मानता रहा है। इन आचार्यों में आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ और पंडित जगन्नाथ आदि भी इसी
के पोषक रहे हैं। इनकी स्थापनाओं और व्याख्याओं का यह प्रभाव हुआ कि अलंकार को भावकोटि (वर्ण्य) से अलग, काव्य
शरीर और उसकी सजावट का अंग मान लिया गया।

अलंकार के दो प्रमुख भेद माने गये हैं शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। जहाँ एक साथ दोनों की सिद्धि हो वहाँ उभयालंका
की कल्पना की गयी है। शब्दालंकार स्थूल होने के कारण सौन्दर्य का गौण प्रसाधन माना गया है। काव्य के सूक्ष्म सौन्दर्य औ
अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण अर्थालंकार को प्रमुखता दी गयी है। **डॉ. केदारनाथ सिंह** का विचार है–**"अलंकारों के स्वरूप औ
प्रकार की भी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। देश-काल के परिवर्तन भावों के विकास के अनुसार नये-नये अलंकारों की संभाव
भी बढ़ती जाती है।"** अलंकार का सम्बन्ध अप्रस्तुत विधान से है। वह प्रस्तुत को ग्राह्न और रोचक बनाता है। उत्कृष्ट काव्य
रस और अलंकार का सामंजस्य होना चाहिए। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने अलंकार को साध्य बनाया जिससे कविता का भा
पक्ष दुर्बल हुआ और उस युग की कविता में दुरूहता आयी और कविता साधारण जन के हृदय से दूर हो गयी।

4. शब्दशक्ति–शब्द का अर्थ–बोध कराने वाली शक्ति ही शब्द शक्ति है। शक्तियाँ तीन हैं अभिधा, लक्षणा और व्यंजना
डॉ. किश्वर सुल्ताना के शब्दों में **"जादू से भाषा में एक ऐसी शक्ति एवं प्राणक्ता आ जाती है कि जो अर्थ में चमत्कार उत्पन्न कर
है।"** सहज, स्वाभाविक अर्थ की प्रतीति अविधा शक्ति द्वारा होती है। ध्वनित अर्थ का ज्ञान व्यंजना शक्ति द्वारा होता है। व्यंज
से साहित्य को मूर्त आधार प्राप्त होता है। इसके प्रयोग से साहित्य में चमत्कार के साथ प्रेषणीयता बढ़ती है। परोक्ष एवं इंगित अ
को विज्ञापित कराने वाली शक्ति लक्षणा है। लक्षणा एवं व्यंजना द्वारा सही जटिल एवं गुम्फित भावों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव है

5. कल्पना–काव्य में कल्पना का महत्त्व निसंदेह अधिक है, क्योंकि काव्य की सृष्टि ही कल्पना द्वारा होती है। कल्पना काव
की मूल विधायिनी शक्ति है। काव्य में कल्पना ही एक ऐसे रसमय लोक की सृष्टि करती है जिसमें डूबकर पाठक आनन्दविभो
हो जाता है। कवि के मन में जब कोई भाव उत्पन्न होता है तो उससे सम्बन्धित दूसरे भाव भी मानस पटल पर घूमने लगते हैं
साधारणतया यह भाव देखी हुई वस्तु के आधार पर ही उत्पन्न होते हैं परन्तु काव्य में यह अद्भुत भी हो सकते हैं जिन्हें कवि
अपने रचना शिल्प द्वारा प्रत्यक्ष कर देता है। काय के कला पक्ष के अन्तर्गत इस कल्पित रूप विधान को अप्रस्तुत विधान कहते
हैं। अप्रस्तुत योजना का प्रयोजन, प्रस्तुत की श्रीवृद्धि, अमूर्त का मूर्तिकरण तथा अभिव्यंजना में शक्ति, सौन्दर्य एवं रमणीयता क
संवर्द्धन है। **डॉ. अर्चना श्रीवास्तव** के अनुसार–**"कल्पना काव्य में रमणीयता, रागात्मकता लाती है, आनंद की सृष्टि करती है। जीवन
के विविध दृश्य प्रस्तुत करती है। निराकार वस्तुओं को आकार देती है, तथ्य को चित्रमय बनाती है तथा भावों को जाग्रत करती है।"**

6. भाषा–काव्य का उद्गम स्थल भाव है और भाषा भावों को मूर्त रूप प्रदान करती है। भाषा भावों की अनुगामिनी है
भाषा कवि की स्वानुभूति को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने का सुन्दर माध्यम है, क्योंकि भाषा ही भाव एवं विचारों को वहन करके
कवि की स्वानुभूति को उसके अन्तः जगत में बाह्य जगत में लाती है और अपनी अपूर्व क्षमता द्वारा उन्हें सर्वजन सुलभ बनाती है
इस भाषा का स्वरूप पद या पदांशों, वाक्य या वाक्यांशों द्वारा निर्मित होता है और पद या वाक्य आदि का मूल आधार शब्द है

शब्द का धातुगत अर्थ आविष्कार करना या शब्द करना है। कुन्तक भी अनेक वाचकों के रहते हुए भी **विवक्षित अथव
अभिलषित अर्थ के एकमात्र वाचक को 'शब्द' कहते हैं।** आचार्य दण्डी का मत है कि सम्यक प्रयोग होने से यह शब्द कामधे
के समान हमारा सर्वार्थ सिद्ध करता है और दुष्प्रयुक्त होने से प्रयोक्ता की ही मूर्खता को प्रकट करता है।

पाश्चात्य विद्वानों में वाल्टर पेटर ने भी लिखा है कि–"अनेक शब्दों के रहते हुए भी एक विचार के लिए एक ही शब्द उपयुक्त होता है।"

आधुनिक विद्वानों में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में–"भाषा साहित्य का वाहन है।"

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन है–"भाव चित्रों की भाषा को श्रेष्ठ काव्य-भाषा माना जाता है।"

निराला जी कविता के लिए ऐसी ही भाषा उपयुक्त समझते हैं जिसका स्वाभाविक विकास अपने जातीय जीवन की दृढ़ नींव पर हुआ हो। उन्होंने लिखा है कि–"प्रकृति की स्वाभाविक चाल से भाषा जिस तरफ या सुखानुशयता मृदुलता और छन्दलालित्य की तरफ यदि उसके साथ जातीय जीवन का भी सम्बन्ध है तो यह निश्चित रूप से कहा जाएगा कि प्राण-शक्ति उस भाषा में है।"

कविता के लिए सम्प्रेषणीयता एक अनिवार्य शर्त है। सम्प्रेषणीयता का प्रयोग से सीधा सम्बन्ध है। कवि का प्रयोग जितना ही सहज, सुन्दर और समर्थ होगा उसकी कविता उतनी ही प्रभावशाली होगी। कवि का ज्ञान अगाध हो सकता है, अनुभव विस्तृत हो सकता है, सृजन-प्रतिभा महान हो सकती है। किन्तु यदि उसमें भाषा का संस्कार नहीं है, शब्द-प्रयोग के विवेक का अभाव है, शब्दावली नियोजन की अनभिज्ञता है तो उसकी अभिव्यक्ति गूंगी होगी, कथन होगा और वाणी भेदस।

अतः उक्त सभी विद्वानों के शब्द-विधान सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक काव्य के लिए भावानुकूल शब्दों का चयन अपेक्षित है। वे शब्द लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक भले ही हों, किन्तु लोक रुचि एवं लोक व्यवहार से भिन्न न हो। उनमें नाद-सौन्दर्य एवं ध्वन्यात्मकता भी हो। वे व्याकरण-सम्मत हों तथा उनमें नवीन शब्दों के साथ मुहावरे, लोकोक्ति आदि का भी प्रयोग हो तो वे और भी रसात्मक बन सकते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं–भाव वस्तु पक्ष एवं शिल्प पक्ष। समय के परिवर्तन एवं बदली हुई परिस्थितियों में दोनों ही पक्षों से परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यदि हम पिछले सौ वर्षों के साहित्य के वस्तु पक्ष एवं शिल्पपक्ष की परिवर्तनशीलता का अध्ययन करें। जैसा कि यहाँ वस्तु पक्ष के संदर्भ में किया भी गया है, तो यह विचार सहज ही प्रमाणित हो जाएगा।

◆◆◆

2. काव्य–हेतु

1. काव्य हेतु का अर्थ स्पष्ट करते हुए विभिन्न काव्य हेतुओं की विवेचना कीजिए। **(Most Imp.)**

अथवा

काव्य हेतुओं को परिभाषित कीजिए।

उत्तर–काव्य हेतु : अर्थ एवं परिभाषा–काव्य हेतु से तात्पर्य उन तत्त्वों से है जो काव्य रचना के कारण हैं। इस विश्व में हमारे अथवा अन्य लोगों के साथ कुछ घटनाएँ घटित होती रहती हैं और वे घटनाएँ हमारे मन को भी प्रभावित करती हैं। हम उन घटनाओं तथा अपनी प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त करना चाहते हैं। यदि साधारण शब्दावली में हम इन्हें अभिव्यक्त करेंगे तो वह **'वार्ता'** कहलाएगी। परंतु यदि कल्पनाश्रित तथा असाधारण शब्दावली में अभिव्यक्त करेंगे तो वह **'काव्य'** कहलाएगा। काव्य रचना प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता। जो व्यक्ति प्रतिभासम्पन्न होता है, वही काव्य की रचना कर सकता है। यह प्रतिभा ही काव्य का मूल्य तत्त्व है, परंतु भारतीय काव्यशास्त्रियों ने कुछ अन्य हेतुओं की भी चर्चा की है। सर्वप्रथम संस्कृत के आचार्यों का मत दिया जा रहा है–

(क) संस्कृत के आचार्यों का मत–

• **भामह**–संस्कृत काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम भामह ने काव्य के हेतुओं की स्पष्ट विवेचना की है। उनका कथन है कि मूर्ख व्यक्ति भी गुरु के उपदेश से शास्त्र आदि विषयों का अध्ययन करने में समर्थ हो जाता है परंतु काव्य रचना कोई प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है। यहाँ भामह ने **प्रतिभा** को काव्य रचना का मुख्य हेतु अथवा कारण माना है। लेकिन साथ ही उन्होंने

अनवरत अध्ययन द्वारा व्युत्पन्न अभ्यास को भी काव्य का हेतु माना है। इससे स्पष्ट होता है कि भामह ने काव्य के तीन स्वीकार किए हैं–

(i) **प्रतिभा**–यह काव्य का मुख्य हेतु है, परंतु यह ईश्वर प्रदत्त योग्यता है। प्रत्येक व्यक्ति में यह प्रतिभा नहीं होती।

(ii) **व्युत्पत्ति**–इसका अर्थ है–निपुणता, जिसे विभिन्न काव्यों तथा शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है। लोक व्यवहार ज्ञान द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है।

(iii) **अभ्यास**–बार-बार काव्य रचना का प्रयास करना ही अभ्यास कहलाता है। मंगल नामक आचार्य ने इसे काव्य प्रमुख हेतु माना है क्योंकि अभ्यास के बिना प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति की प्रतिभा भी कुंठित हो जाती है।

• **दण्डी**–आचार्य दण्डी ने प्रतिभा को काव्य का मूल हेतु माना है, परंतु उन्होंने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को भी आवश्य माना है। उनका कथन है कि जन्मजात प्रतिभा, निर्मल शास्त्र ज्ञान तथा अनवरत अभ्यास काव्य रूपी सम्पत्ति के कारण हैं।

"नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य सम्पदः।।"

• **वामन**–आचार्य वामन ने विस्तारपूर्वक काव्य हेतुओं की चर्चा की है परंतु उनके समक्ष भामह और दण्डी के मत पहले थे। इसलिए इनको काव्य हेतुओं की चर्चा करने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने काव्य हेतुओं में लोक (लोक व्यवहार ज्ञान विद्या (शास्त्र ज्ञान) तथा प्रकीर्ण तीन काव्य हेतु माने हैं परंतु उन्होंने प्रकीर्ण के अन्तर्गत छः भेदों की चर्चा की है–

(i) **लक्ष्यज्ञत्व** अर्थात् अन्य कवियों की रचनाओं का अनुशीलन।

(ii) **अभियोग** अर्थात् अभ्यास।

(iii) **वृद्ध सेवा** अर्थात् गुरुजनों से प्राप्त शिक्षा।

(iv) **अवेक्षण** अर्थात् उपयुक्त शब्दों का चयन तथा अनुपयुक्त शब्दों का अपसारण।

(v) **प्रतिभा** अर्थात् ईश्वर प्रदत्त योग्यता।

(vi) **अवधान** अर्थात् चित्त की एकाग्रता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वामन ने प्रतिभा की अपेक्षा व्युत्पत्ति और अभ्यास को और अधिक महत्त्व दिया है

• **आचार्य रूद्रट**–इन्होंने काव्य के तीन हेतु माने हैं। ये हैं–(क) शक्ति, (ख) व्युत्पत्ति तथा (ग) अभ्यास। **शक्ति** से उनक तात्पर्य था–प्रतिभा। इसके पुनः दो भेद किए गए हैं। प्रथम हैं–सहजता प्रतिभा अर्थात् जो जन्मजात होती है। उत्पाद या प्रतिभ जो कि श्रम से अर्जित की जाती है।

• **भट्टतौत**–उन्होंने प्रतिभा की परिभाषा देते हुए लिखा है कि नए-नए अर्थों की स्वतः उद्घाटन करने वाली प्रज्ञा है प्रतिभा कहलाती है।

• **कुन्तक**–उनका विचार है कि पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कार से प्रौढ़ता को प्राप्त विशिष्ट कवित्व- शक्ति प्रतिभ कहलाती है।

• **मम्मट**–आचार्य वामन द्वारा जो काव्य हेतुओं का विस्तृत वर्णन हुआ था, उन्हें आचार्य मम्मट ने तीन काव्य हेतुओं अन्तर्भूत कर लिया। वे कहते भी हैं–

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञं शिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

अर्थात् शक्ति, लोक शास्त्र का ज्ञान, काव्य मर्मज्ञों से प्राप्त शिक्षा, निपुणता (अभ्यास) आदि काव्य के मूल हेतु हैं। भले ह मम्मट ने शक्ति अर्थात् प्रतिभा को सर्वाधिक महत्त्व दिया हो परंतु वे तीनों को समन्वित रूप से काव्य हेतु मानते हैं।

(क) **शक्ति** अर्थात् प्रतिभा।

(ख) **लोक, काव्य शास्त्र, काव्य** आदि के अध्ययन द्वारा प्राप्त निपुणता।

(ग) **काव्य के मर्मज्ञ व्यक्तियों से प्राप्त शिक्षा द्वारा अभ्यास** अर्थात् प्रतिभा, निपणुता तथा अभ्यास तीन काव्य हेतु हैं।

• **आचार्य आनन्दवर्धन**–इन्होंने प्रसंगवश काव्य हेतुओं की चर्चा की है। इन्होंने केवल प्रतिभा और व्युत्पत्ति का उल्लेख किया है, परंतु प्रतिभा को प्रमुख स्थान दिया है। वे कहते हैं–**"व्युत्पत्ति के अभाव का दोष प्रतिभा द्वारा तो ढक जाता है पर प्रतिभा के अभाव का दोष व्युत्पत्ति नहीं ढक सकती।"**

• **राजशेखर**–इन्होंने विस्तारपूर्वक काव्य हेतुओं की चर्चा की है। वे शक्ति तथा प्रतिभा को अलग-अलग मानते हैं, साथ ही प्रतिभा की तुलना में शक्ति को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। उन्होंने तीन प्रकार की बुद्धि की चर्चा की है–

(i) स्मृति–यह अतीत का स्मरण कराती है।

(ii) मति–वह बुद्धि जो वर्तमान की मंत्रणा करती है।

(iii) प्रज्ञा–वह बुद्धि जो भविष्य के अर्थों को प्रकट करती है।

परंतु ये तीनों प्रकार की बुद्धियाँ कवि की उपकारक हैं। राजशेखर ने काव्य हेतुओं का जो विवेचन किया है, उसकी तालिका यहाँ दी जा रही है–

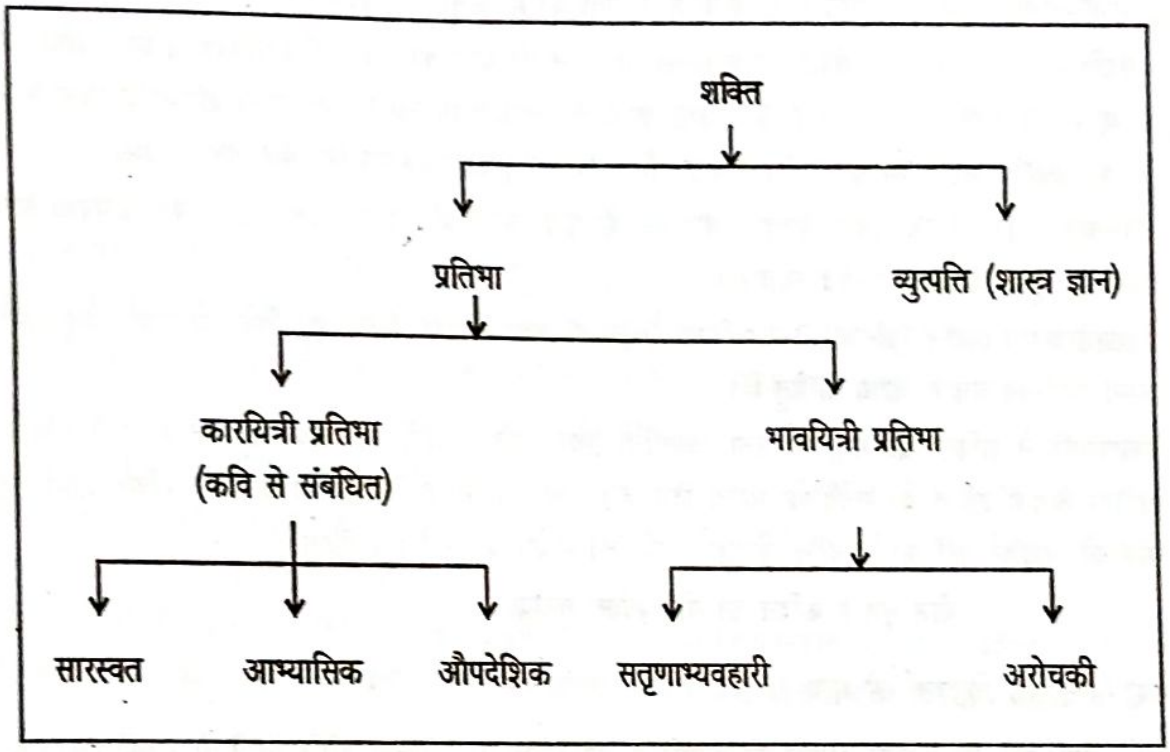

राजशेखर ने शक्ति को ही काव्य का मूल हेतु माना है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति तो उसकी वृद्धि करने में सहायक हैं। शक्ति यदि काव्य कर्ता है तो प्रतिभा और व्युत्पत्ति कारण हैं। ऐसा लगता है वे प्रतिभा और व्युत्पत्ति को शक्ति से उत्पन्न हुआ मानते हैं। पुनः राजशेखर ने प्रतिभा के दो प्रकार माने हैं–**कारयित्री प्रतिभा** और **भावयित्री प्रतिभा**।

(i) कारयित्री प्रतिभा–इसका संबंध कवि से है। कवि कारयित्री प्रतिभा द्वारा काव्य की रचना करता है।

(ii) भावयित्री प्रतिभा–इसका संबंध सहृदय से है। सहृदय भावयित्री प्रतिभा द्वारा कवि रचित काव्य का आनंद प्राप्त करता है।

राजशेखर ने तीन प्रकार के कवि माने हैं–सारस्वत, आभ्यासिक तथा औपदेशिक। **सारस्वत** वे कवि होते हैं जो जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से प्रतिभा को प्राप्त कर लेते हैं। **आभ्यासिक** वे कवि होते हैं जिनमें प्रतिभा बीज रूप में होती है परंतु अभ्यास से ही वह स्फुटित होती है। **औपदेशिक** वे कवि होते हैं जो किसी गुरुजन की वाणी के उपदेश से कवि बन जाते हैं। राजशेखर ने प्रतिभा को सर्वोत्तम माना है परंतु साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों के मेल से ही उत्तम काव्य का निर्माण होता है।

राजशेखर ने भावयित्री प्रतिभा के भी दो भेद स्वीकार किए हैं–सतृणाभ्यवहारी तथा अरोचकी। **सतृणाभ्यवहारी** का अर्थ है–तिनकों को न बचाते हुए सब कुछ खा जाना। इस प्रकार का कवि जो कुछ लिखता है, उसे काव्य मान लेता है। फलस्वरूप वह उत्तम काव्य की रचना नहीं कर सकता। **अरोचकी** प्रतिभा का संबंध अरोचक रोग से है जो कि शरीर में पित्त बढ़ने से उत्पन्न होता है। ऐसे व्यक्ति को उत्तम भोजन भी अरोचक लगता है। काव्य सृजन के लिए यह दोष लाभकारी माना गया है। कवि जब सहृदय बनकर अपनी काव्य रचना को पढ़ता है तो वह उसकी त्रुटियों को दूर करके उसे शुद्ध रचना बनाता है। फलस्वरूप उसकी वह काव्य रचना श्रेष्ठ सिद्ध होती है।

आचार्य हेमचन्द्र–आचार्य हेमचन्द्र का कथन है कि प्रतिभा काव्य का मूल हेतु है। व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा का परिष्कार करते हैं।

- **आचार्य जयदेव**–का कथन है–**"जिस प्रकार उत्पत्ति का मूल हेतु बीज है, खाद और पानी तो उसके विकास के हेतु हैं, उसी प्रकार काव्य-सृष्टि का मूल हेतु प्रतिभा है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके सहायक हैं।"**
- **जगन्नाथ**–आचार्य जगन्नाथ के अनुसार प्रतिभा ही काव्य का मूल हेतु है। व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के कारण हैं।

(ख) रीतिकालीन आचार्यों के मत–

रीतिकालीन आचार्य कवियों ने भी काव्य हेतु के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं, परंतु उनके विचारों में कोई मौलिकता नहीं है। प्रायः सभी आचार्य कवियों ने संस्कृत के आचार्यों के मतों का ही अनुसरण किया है।

- **श्रीपति** ने काव्य हेतुओं में शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास की चर्चा की है। उन्होंने प्रतिभा के लिए शक्ति का प्रयोग किया है। साथ ही यह भी कहा है कि प्रतिभा पुण्यों के प्रताप से मिलती है। जो काव्य प्रतिभा के बिना लिखा जाता है, वह उपहास का विषय बनता है। वे कहते हैं–**शक्ति निपुणता लोकमत वितपत्ति अरु अभ्यास।**
- **सोमनाथ** ने कहा है कि श्रवण, अभ्यास और गुरु की कृपा काव्य के हेतु हैं। श्रवण से उनका अभिप्राय व्युत्पत्ति था और गुरु कृपा का अर्थ है–दैवी प्रतिभा।
- **भिखारीदास** ने शक्ति (प्रतिभा), काव्य शिक्षा (व्युत्पत्ति) तथा अनुभव (अभ्यास) तीनों को काव्य हेतु माना है। ये तीनों समन्वित रूप से काव्य के हेतु हैं।
- **प्रतापसाहि** ने शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास तीनों को काव्य का हेतु माना है लेकिन उन्होंने प्रतिभा अथवा शक्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि प्रतिभा के बिना रचित काव्य सहृदय के मन को आकृष्ट नहीं करता, बल्कि केवल उपहास का विषय बनता है। वे कहते हैं–

  'बीज मूल है कवित्त को सोई शक्ति गनाया।'

(ग) आधुनिक हिन्दी के विद्वानों के मत–

- **डॉ. भगीरथ मिश्र** के अनुसार, **"कवि की सामाजिक, पारिवारिक या वैयक्तिक परिस्थितियाँ तो उसकी प्रकृति है, जिससे उसे काव्य रचना की प्रेरणा प्राप्त होती है और जिसके अभाव में या तो काव्य रचना बिल्कुल नहीं होती अथवा होती भी है तो किसी अन्य रूप में।"**
- **डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत** लिखते भी हैं–**"मेरी समझ में काव्य की जनयत्री मनुष्य की प्राणभूत विशेषता है। उसकी मनन की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति ने ही पशु और मनुष्य में भेद स्थापित कर रखा है।"** यहाँ 'मननशीलता' का अर्थ अभ्यास और व्युत्पत्ति लिया जा सकता है। परंतु डॉ. त्रिगुणायत ने प्रतिभा का कोई उल्लेख नहीं किया है।

प्लेटो, अरस्तू, होरेस, लोंजाइनस आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य हेतुओं की चर्चा की है। इस संदर्भ में अरस्तू लिखते हैं कि कला ही मूल प्रेरणा अनुकरण की प्रवृत्ति है जो मानव को बाल्यावस्था से प्राप्त होती है। यह प्रवृत्ति उसे साहित्य रचना की ओर प्रेरित करती है। होरेस ने भी अनुकरण को काव्य का प्रेरक हेतु स्वीकार किया है लेकिन उन्होंने प्रतिभा, शास्त्र ज्ञान का समीकरण और सजग विवेक की ओर स्पष्ट संकेत किया है।

प्रतिभा तथा **व्युत्पत्ति** का विवेचन इस प्रकार है–

1. प्रतिभा–लगभग सभी आचार्यों ने स्पष्ट रूप से प्रतिभा को ही सर्वोत्कृष्ट तथा अनिवार्य काव्य हेतु माना है। **मम्मट** का विचार है कि शास्त्र पठन तो गुरु के उपदेश से जड़मति के लिए भी संभव है, पर काव्य निर्माण के लिए प्रतिभा अपेक्षित है। **वामन** और **मम्मट** दोनों ने स्वीकार किया है कि–**प्रतिभा ही कवित्व का बीज है। दण्डी** ने प्रतिभा को आवश्यक काव्य हेतु माना है। लेकिन उन्होंने यह भी माना है कि शास्त्र ज्ञान और अभ्यास से भी काव्य रचना हो सकती है परंतु **आनंदवर्धन** का कहना है कि प्रतिभा के बिना किसी रूप में भी काव्य रचना संभव नहीं है। वे कहते हैं–**"शक्ति (प्रतिभा) के बिना यथार्थ काव्य की रचना हो ही नहीं सकती।"** ऊपर हम मम्मट की चर्चा कर चुके हैं जिन्होंने शक्ति को कवित्व का बीज माना है, परंतु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों समन्वित रूप से काव्य हेतु हैं।

जयदेव ने इस धारणा को एक रूपक द्वारा समझाने का प्रयास किया है–**"जिस प्रकार लता की उत्पत्ति का हेतु मिट्टी और जल से युक्त बीज है, उसी प्रकार काव्य रचना का हेतु व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त प्रतिभा है।"** आगे चलकर **हेमचन्द्र** ने प्रतिभा को काव्य का हेतु माना, लेकिन साथ ही व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का परिष्कारक हेतु कहा। **जगन्नाथ** ने हेमचन्द्र की इस धारणा को स्वीकार तो कर लिया, लेकिन यह भी कहा कि–**"व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में कभी-कभी अदृष्ट भी प्रतिभा का उत्पादक कारण बन जाता है।"** अदृष्ट के बारे में वे कहते हैं–किसी देवता अथवा महापुरुष द्वारा दिए गए वरदान से जन्य प्रसाद। परंतु **जगन्नाथ** की इस विचारधारा को शायद ही कोई विद्वान मानता हो। संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के हेतु हैं परंतु इन तीनों में प्रतिभा ही सर्वाधिक उत्कृष्ट तथा अनिवार्य तत्त्व है।

२. व्युत्पत्ति–व्युत्पत्ति वह निपुणता है जो विभिन्न काव्यों तथा शास्त्रों के अध्ययन, अध्यापन या लोक व्यवहार ज्ञान से प्राप्त होती है। वस्तुतः व्युत्पत्ति काव्य का हेतु नहीं कहा जा सकता। यह प्रतिभा का परिष्कारक हेतु है। व्युत्पत्ति के सहयोग से प्रतिभा परिपुष्ट, परिष्कृत तथा प्रखर होती है। लेकिन व्युत्पत्ति से प्रतिभा के अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता तो सभी काव्य मर्मज्ञ और लोक व्यवहार निपुण व्यक्ति काव्य रचना करने लगते। प्रायः देखने में आया है कि अशिक्षित और ग्रामीण कवि भी सुंदर काव्य रचना कर लेते हैं। यह उनकी प्रतिभा के कारण ही संभव हो पाता है।

अभ्यास–मंगल नामक आचार्य ने अभ्यास को काव्य का प्रमुख हेतु माना है, परंतु यह काव्य का न तो अनिवार्य हेतु है और न ही प्रमुख हेतु है। इसके बिना भी उत्कृष्ट काव्य की रचना हो सकती है। संसार में ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिनकी प्रथम रचना ही अमर कृति बनी है। यहाँ वाल्मीकि का उदाहरण दिया जा सकता है जिनका प्रथम श्लोक ही प्रसिद्ध काव्य कहलाया, परंतु फिर भी अभ्यास की सहायता से प्रतिभा का परिष्कार अवश्य हो जाता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य हेतु हैं। लेकिन हमें यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के ही परिष्कारक और पोषक हेतु हैं परंतु सभी कवियों के पास समान प्रतिभा नहीं होती। इस संदर्भ में **कुन्तक** की यह धारणा विशेष महत्त्व रखती है–

"प्रतिभासम्पन्न कवि और उनकी प्रतिभा में अभेद है। इसी कारण सुकुमार-स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा सहज (सुकुमार) होती है, विचित्र-स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा विचित्र और उभय-स्वभाव-युक्त कवियों की प्रतिभा मिश्रित शोभा-शालिनी होती है।"

◆◆◆

3. काव्य–प्रयोजन

1. काव्य-प्रयोजन से क्या अभिप्राय है? विस्तार से बताइए। **(Imp.)**

अथवा

काव्य के विभिन्न प्रयोजनों पर प्रकाश डालिए।

अथवा

काव्य-प्रयोजन का सविस्तार विवेचन कीजिए।

उत्तर–काव्य-प्रयोजन : अर्थ एवं परिभाषा–सामान्य शब्दों में काव्य-प्रयोजन से अभिप्राय काव्य रचना के पीछे व्याप्त कवि के उद्देश्य से होता है। संसार में कवि को प्रजापति कहा गया है। उसकी सृष्टि काव्य हमेशा सोद्देश्य होती है। एक मंदबुद्धि व्यक्ति भी बिना उद्देश्य के कोई कार्य नहीं करता। ऐसी स्थिति में विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न तथा तत्त्वज्ञ कवि बिना उद्देश्य के काव्य रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि काव्य की परिभाषा तथा काव्य हेतु के साथ-साथ काव्य प्रयोजन की भी चर्चा की जा सकती है। काव्य के प्रयोजन के बारे में संस्कृत काव्यशास्त्रियों के अतिरिक्त पाश्चात्य तथा आधुनिक विद्वानों ने भी अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। इन विद्वानों की काव्य-प्रयोजन संबंधी परिभाषाओं की विवेचना करने से हम स्वतः ही काव्य-प्रयोजन के अर्थ, स्वरूप एवं अवधारणा से परिचित हो जाएंगे।

(क) काव्य प्रयोजन संबंधी संस्कृत काव्यशास्त्रियों का मत–काव्य प्रयोजन के संदर्भ में संस्कृत के विभिन्न आचार्यों एवं विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। कुछ प्रमुख संस्कृत विद्वानों के एतद्विषयक मत इस प्रकार हैं–

• **आचार्य भरत**–इन्होंने अपनी रचना नाट्य-शास्त्र में नाटक के संबंध में रस का विवेचन किया है। अतः उनके द्वारा प्रतिपादित नाटक का प्रयोजन ही काव्य का प्रयोजन है। उनका कथन है कि नाटक अर्थात् काव्य धर्म, यश, आयु, हित और उपदेश देने वाला है। वे कहते भी हैं–

धर्म्य यश स्यमायुष्यं हितं बुद्धि विवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।

एक अन्य स्थल पर भरत मुनि ने पुरुषार्थ चतुष्ट्य अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को नाटक का प्रयोजन माना है।

• **आचार्य भामह**–उनका कथन है कि साधु काव्य के सेवन से कवि और सहृदय दोनों को पुरुषार्थ चतुष्ट्य में रुचि, कलाओं में निपुणता, कीर्ति तथा अनन्त की प्राप्ति होती है। कवि के बारे में उनका कथन है कि साधु काव्य रचना करने से कवि को जीवन काल में तथा जीवनोपरांत भी स्थायी यश प्राप्त होता है। अतः कवि को सत् काव्य की रचना करनी चाहिए। वे कहते हैं–

धर्मार्थकाम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीति कीर्ति च साधुकाव्यनिषेवणम्।।

• **आचार्य दण्डी**–इन्होंने प्रत्यक्ष रूप से काव्य के प्रयोजन की चर्चा नहीं की, लेकिन वाणी के महत्त्व का निर्देशन करते समय उन्होंने वाणी के प्रयोजनों का उल्लेख किया है। यही प्रयोजन काव्य के प्रयोजन भी माने जा सकते हैं। उनका कथन है–**"शब्द लोकत्रय में ज्ञान का प्रकाशक तथा कवि एवं वर्ण्य राजा के यश को स्थायी बनाता है।"** अर्थात् दण्डी ने ज्ञान और यश काव्य के दो प्रयोजन माने हैं।

• **वामन**–इन्होंने काव्य प्रयोजनों का दो भागों में वर्गीकरण किया है–दृष्ट प्रयोजन और अदृष्ट प्रयोजन। उनके विचारानुसार काव्य से आनन्द की प्राप्ति दृष्ट प्रयोजन है और यश की प्राप्ति अदृष्ट प्रयोजन है। परंतु कुछ विद्वानों ने इन प्रयोजनों के बारे में आपत्ति भी उठाई है। क्योंकि वामन ने प्रीति और कीर्ति दो शब्दों का प्रयोग किया है। कारण यह है कि कीर्ति का लाभ भी प्रीति ही है तथा इसकी गणना मानव-जीवन की एक अनिवार्य रचना के अन्तर्गत की जा सकती है।

• **रुद्रट**–इनका कथन है कि कवि काव्य रचना करके महापुरुषों को कल्पान्त स्थायी बना देता है। यह एक बहुत बड़ा उपकार है परंतु कवि को भी इस पुण्य का फल प्राप्त होता है क्योंकि उसका यश भी कल्पान्त स्थायी बन जाता है। उदाहरण के रूप में गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में राम की महिमा का गान किया है। राम का नाम कल्पान्त स्थायी है। इसी प्रकार तुलसीदास का नाम भी युगों तक स्थायी बना रहेगा। अन्यत्र रुद्रट ने स्वीकार किया है कि काव्य के असंख्य प्रयोजन हैं। वे कहते हैं–**"जिस प्रकार समुद्र की मणियाँ गिन पाना असंभव है, उसी प्रकार काव्य प्रयोजनों को गिन पाना भी कठिन है।"** सहृदय को सामने रखकर वे कहते हैं कि नीरस शास्त्रों से त्रस्त सहृदयों को काव्य से शीघ्र और सहज रूप में चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति हो जाती है। संक्षेप में कह सकते हैं कि रुद्रट के अनुसार एक काव्य रचयिता कवि को यश, अर्थ और इच्छा की प्राप्ति होती है और सहृदय को काव्य का अनुशीलन करने से चतुर्वर्ग फल प्राप्ति (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) होती है।

• **आनन्दवर्धन**–ये ध्वनिवादी आचार्य थे। इन्होंने अलग से काव्य प्रयोजन की चर्चा नहीं की। परंतु ध्वनि सिद्धांत की चर्चा करते हुए उन्होंने काव्य प्रयोजन पर भी प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि **प्रीति तथा आनन्द की प्राप्ति ही काव्य के प्रमुख प्रयोजन हैं।** ध्वनि सम्प्रदाय के दूसरे आचार्य हैं–**अभिनव गुप्ता।** उन्होंने **प्रीति** अर्थात् **रसानुभूति को काव्य प्रयोजन माना है। कवि और सहृदय दोनों को ही काव्य का अनुशीलन करने से रसानुभूति प्राप्त होती है।**

राजशेखर का कथन है कि सहृदयों को रसानुभूति कराने में समर्थ प्रगल्भमति कवि की कीर्ति लोक व्यापक होती है। अर्थात् राजशेखर का मन्तव्य केवल सहृदय से है जो काव्य का अनुशीलन करके रसानुभूति करता है।

• **कुन्तक**–ये वक्रोक्तिवादी आचार्य थे। उनका कथन है कि काव्य रचना उच्च कुलोत्पन्न व्यक्तियों के हृदय को आनन्दित करने वाली, कोमल मृदु शैली में कही हुई धर्मादि सिद्धि का मार्ग है। यह खिलौने के समान मनोरंजन का साधन नहीं है, बल्कि पुरुषार्थ चतुष्ट्य का साधन है। आचार्य कुन्तक पुनः कहते हैं कि काव्य का एक अन्य प्रयोजन व्यवहार करने वाले पुरुषों को प्रतिदिन उचित व्यवहार, चेष्टा आदि के सौंदर्य का परिज्ञान कराता है। यही नहीं आचार्य कुन्तक ने काव्य का एक अन्य प्रयोजन भी माना है अर्थात् सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग रूप, फल के आस्वाद से बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करना भी माना है। वे कहते हैं–

"चतुर्वर्गफलास्वादभयातिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरज्ञसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।"

संक्षेप में कह सकते हैं कि आचार्य कुन्तक ने चतुर्वर्ग फल प्राप्ति, व्यवहार ज्ञान तथा विलक्षण चमत्कार की अनुभूति को काव्य का प्रयोजन माना है।

• **महीमभट्ट**–उन्होंने काव्य की तुलना शास्त्र से की है और दोनों का एक ही एक प्रयोजन माना है। उनका कथन है कि काव्य तथा नाटक का फल शास्त्र के समान विधि निषेधपूर्वक विषय की व्युत्पत्ति कराना है। उसका मतलब है कि कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान कराना। इससे स्पष्ट है कि महीमभट्ट ने ज्ञान को ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है।

• **भोजराज**–उन्होंने कीर्ति तथा प्रीति को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है।

"कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति।"

परंतु प्रबंध काव्य की परिभाषा देते हुए उन्होंने उसका उद्देश्य चतुर्वर्ग फल प्राप्ति माना है।

"चतुर्वर्गफलं को ना प्रबन्धं बान्धवीयति।"

संक्षेप में कह सकते हैं कि भोजराज ने लोक व्यवहार ज्ञान, कीर्ति, आनन्द तथा पुरुषार्थ चतुष्ट्य प्राप्ति को काव्य प्रयोजन माना है।

• **मम्मट**–मम्मट ने काव्य प्रयोजनों में यश, प्राप्ति, अर्थ लाभ, लोक व्यवहार शिक्षा, रोग नाश, तुरंत ही उच्च कोटि के आनन्द का अनुभव और प्रिय स्त्री के समान मन भावानुपदेश आदि प्रयोजनों की गणना की है। यदि गहराई से देखा जाए तो आचार्य मम्मट ने अपनी ओर से कोई नई बात नहीं कही, केवल पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को सार रूप में लिख दिया है। संक्षेप में कह सकते हैं–

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेश यजे।।"

(i) मम्मट के मतानुसार काव्य से यश की प्राप्ति होती है।

(ii) काव्य से धन की प्राप्ति होती है।

(iii) काव्य से मानव को व्यवहार ज्ञान प्राप्त होता है।

(iv) अकल्याण का नाश होता है।

(v) सद्यः परनिवृत्तये का अर्थ है–परम शांति की प्राप्ति। इसका भाव यह है कि सुंदर काव्य को पढ़ने से तत्काल परम शांति मिलती है अर्थात् रसास्वादन से आनंद की अनुभूति होती है।

(vi) कान्ता सम्मित उपदेश से तात्पर्य यह है कि राजा की आज्ञा अथवा मित्र का कथन या माता-पिता की आज्ञा को टाला जा सकता है परंतु प्रेयसी के प्रेम का अपमान असंभव है। इसी प्रकार मनुष्य पर वेद-शास्त्रों के उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता, लेकिन काव्य अनुशीलन करने से जो प्रभाव पड़ता है, उसे टाला नहीं जा सकता। काव्य अनुशीलन का प्रभाव सुदृढ़ और अटल होता है।

• **आचार्य विश्वनाथ**–इनका कथन है कि काव्य का प्रयोजन अल्पबुद्धि वालों को भी सुविधापूर्वक चतुर्वर्गफल प्राप्ति माना है।

"चतुर्वर्गफल प्राप्ति सुखादल्पधियामपि।"

• **हेमचन्द्र**–इन्होंने काव्य का प्रयोजन आनंद, यश और कान्तोपदेश को माना है और इस प्रकार मम्मट के मत का ही अनुकरण किया है।

"काव्यमानन्दाय यशसे कांतातुल्य तयोपदेशाय च।"

(ख) काव्य-प्रयोजन संबंधी रीतिकालीन आचार्यों के मत–संस्कृत काव्यशास्त्र की भांति हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने भी काव्य-प्रयोजन के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इस सन्दर्भ में कुछ प्रमुख रीतिकालीन आचार्यों के मत निम्नवत् हैं–

• **कुलपति**–इन्होंने यश, सम्पत्ति, विलक्षण, आनंद, दुःख, नाश, लोक-व्यवहार में निपुणता तथा कान्तोपदेश को गिनवाया है। वे कहते हैं–

"जस सम्पत्ति, आनन्द अति, दुःखिन डारै खोइ।
हो कवित्त ते चतुराई, जगत बाम बस होइ।"

• **देवदत्त**–देवदत्त ने शाश्वत् यश को ही काव्य का प्रयोजन माना है। उनका मत है कि इस संसार में सब कुछ नश्वर है, परंतु काव्य द्वारा प्राप्त यश अमर और स्थिर है। वे कहते भी हैं–

"रहत न घर, बर, धाम, धन, तरूवर, सरवर, कूप।
जस-सरोर जग में अमर, कल्प काव्य रस रूप।।"

- **आचार्य सोमनाथ**–आचार्य सोमनाथ ने कीर्ति, धन, मनोरंजन, मंगल तथा उत्तम उपदेश को काव्य प्रयोजन माना है। वे कहते हैं–

"कीरति बित्त बिनोद अरु अति मंगल को देति।
करै मलो उपदेश नित (सरस) कबित्त चित्त चेति।।"

- **भिखारीदास**–भिखारीदास ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यश और आनन्द को काव्य-प्रयोजन माना है।

(ग) काव्य-प्रयोजन संबंधी आधुनिक विद्वानों के मत–संस्कृत काव्यशास्त्र एवं रीतिकालीन आचार्य कवियों से प्रेरणा लेते हुए हिन्दी के आधुनिक काल के विभिन्न विद्वानों ने भी काव्य-प्रयोजन के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनमें से कुछ आधुनिक विद्वानों के काव्य-प्रयोजन संबंधी विचार निम्नवत् हैं–

- **आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी**–इन्होंने उपदेश को ही काव्य का प्रयोजन माना है। वे लिखते हैं–

"अलौकिक कार्य करने वाले प्रतिभाशाली मनुष्य ही अवतार हैं। स्वाभाविक कवि भी एक प्रकार के अवतार हैं। पहुंचे हुए पंडितों का कथन है कि कवि भी धर्म संस्थापनार्थ उत्पन्न होते हैं।"

- **डॉ. श्यामसुन्दर दास**–इनके काव्य प्रयोजन संबंधी विचार सर्वथा मौलिक हैं। वे साहित्य के बारे में लिखते हैं–**"साहित्य हमारी उस रुचि को तृप्त करने में समर्थ होना चाहिए जिसको हम अपने या किसी दूसरे के सामने प्रकट करने में लज्जित न हों।"**

अन्यत्र वे लिखते हैं–**"काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनंद या चमत्कार की सृष्टि करे।"**

- **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने काव्य लक्ष्य पर बड़े विस्तार से विचार किया है। वे काव्य का प्रमुख लक्ष्य **"हृदय को मुक्तावस्थ में लाना"** मानते हैं। अपने इस लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है–

"काव्य का लक्ष्य है जगत और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालदर्शिनी अनुभूति में लीन करे। उसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-से-ऊँचे लक्ष्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय भगवान के लोक-रक्षक और लोकरंजक रूप से मिलता है, तब वह भक्ति में लीन हो जाता है।" इस प्रकार शुक्ल जी काव्य के प्रयोजन के रूप में रस तथा मानव हित को स्थान देते हैं।

- **बाबू गुलाब राय**–पुत्रैषणा, हितैषणा तथा लोकैषणा को साहित्य का प्रयोजन माना है। इस संबंध में वे आत्मा-प्रेम तथा आत्मा-विस्तार के रूप में आत्मभिव्यक्ति को काव्य का प्रयोजन स्वीकार करते हैं।
- **आचार्य नन्दुलारे वाजपेयी** ने आत्मानुभूति को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है।
- **मैथिलीशरण गुप्त** ने तो उपदेश को ही काव्य का प्रयोजन माना है।

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।"

- **आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी**–मानव हित को सामने रखकर काव्य प्रयोजन की चर्चा की है–

"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गतिहीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न कर सके, जो उसके हृदय को पद-दुःखकातर और पर-दुःखसंवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

- **डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु**–इन्होंने सुख लिप्सा को ही काव्य का प्रयोजन माना है। वे कहते हैं–

"सब कारणों का एक ही मूल है और वह है सुख।
यश, कीर्ति, प्रशंसा के आवरण के नीचे मनुष्य की लिप्सा छिपी हुई है।"

- **डॉ. नगेन्द्र**–डॉ. नगेन्द्र ने आत्माभिव्यक्ति को साहित्य कां प्रयोजन माना है। वे कहते हैं–**"आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है, जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।"**

- **गोस्वामी तुलसीदास**–गोस्वामी तुलसीदास ने अंतःकरणकारी प्रशंसा, अज्ञानान्धकार तथा कीर्ति लाभ और सामाजिक के लिए हित लाभ को काव्य प्रयोजन माना है।

  "कीरति भनिति भूति भल सोई।
  सुरसरिसम सबकरहित होई।।"

- **जयशंकर प्रसाद**–जयशंकर प्रसाद का कथन है कि श्रेय को प्रेय का रूप देना ही साहित्य का प्रयोजनहै।
- **नंददास**–नंददास के अनुसार, काव्य का प्रयोजन 'हरिरस चर्चा' है। वे कहते हैं–

  "हरि जस रस जिहि कवित्त नहिं सुने कवन फलताहिं।"

- **कविवर पंत** ने काव्य के दो प्रयोजन माने हैं–**आत्म-सुख और लोक हित**। एक स्थल पर पर वे कहते हैं–

  "तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
  ज्योतितकर जन-मन के जीवन का अन्धकार।
  तुम खोल सको मानव-उर के निःशब्द द्वार।।"

- **श्रीमती महादेवी वर्मा** के अनुसार काव्य का प्रयोजन मानव और समाज में सामंजस्य उत्पन्न करना है। वे लिखती हैं–

  "साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छन्द मानव स्वभाव में उसकी मुक्ति को अक्षुण्णता रखते हुए समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है।"

संक्षेप में कह सकते हैं कि संस्कृत के विद्वानों और आधुनिक आलोचकों और कवियों ने काव्य प्रयोजन के बारे में विस्तारपूर्वक चर्चा की है। प्रत्येक आलोचक ने अपने दृष्टिकोण से काव्य के प्रयोजनों पर प्रकाश डाला है। इतना निश्चित है कि कवि अपनी रचना को पढ़ते समय रसास्वाद प्राप्त करता है और पाठक तथा श्रोता उसे पढ़कर अथवा सुनकर रसास्वाद प्राप्त करता है। यदि कोई काव्य पाठक को आनंदानुभूति प्रदान नहीं करता तो वह उसमें रुचि नहीं लेता।

◆◆◆

4. काव्य भेद : महाकाव्य, खंडकाव्य, गीतिकाव्य

1. काव्य के विभिन्न भेदों का वर्णन कीजिए। **(Imp.)**

अथवा

काव्य के विभिन्न प्रकार कौन-कौन से हैं? संक्षेप में उनका परिचय दीजिए।

अथवा

काव्य के भेदों का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर–काव्य के भेद/प्रकार–सम्पूर्ण विश्व में साहित्य की सर्वाधिक प्राचीन परम्परा देखी जा सकती है। परंतु साहित्य के अन्तर्गत काव्य को सर्वाधिक प्रश्रय प्राप्त हुआ। कारण यह है कि काव्य सहज प्रभावी, सहज स्मरणीय और सूत्र रूप में होता है। दूसरा प्राचीनतम उपयोगी साहित्य पद्यबद्ध रूप में प्राप्त होता है। विशेषकर भारत में इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र आदि सभी पद्यों में ही रचे गए। काव्य में प्रवण भाव का ऐसा उल्लंघन हुआ कि वह अपने स्वभावगत स्वरूप में ताल, लय आदि से संचित हो गया। यही नहीं, उसमें गेय स्वरों का भी न्यूनाधिक समावेश होता है। दूसरा काव्य अपनी रमणीयता और मनोहारिता के कारण श्रोता के मन को तत्काल प्रभावित करता है। स्वभावतः संयत पद्य विधान को ही कविता या काव्य कहा गया है। इसी संदर्भ में आचार्यों ने काव्य के स्वरूप की चर्चा करते हुए विभिन्न धरातलों पर उसका वर्गीकरण भी किया है। संस्कृत के आचार्य दण्डी ने अपनी रचना काव्यादर्श में कहा है–

"वाचामेव प्रसादेनः लोकयात्रा प्रवर्तते।"

अर्थात् वाणी के वरदान के कारण ही मानव सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। इसी के आधार पर मानव जीवन की विकास या अग्रसर हो रही है। वाणी का भावावेशमय सशक्त विधान ही काव्य है जो कि सुर, ताल, लय का आश्रय प्राप्त करके शाश्व काल से मानव-मन और जीवन को आनन्दानुभूति प्रदान कर रहा है। प्राचीन काल में काव्य श्रुत मात्र ही होता था। वेद तथ्य प्रमाणित करते हैं। लोकगीत तो आज भी श्रुत ही है परंतु जब इस श्रुत के कथित रूप को लिपिबद्ध किया जाने लगा तब काव का भेद और वर्गीकरण भी होने लगा। आज तक हमें जो काव्य उपलब्ध हुआ है, उसका भेद और वर्गीकरण निम्नलिखित प्रका से किया जा सकता है–

परंतु वर्गीकरण प्रस्तुत करने से पूर्व हमें साहित्य की भी चर्चा करनी होगी। साहित्य एक व्यापक शब्द है जिसमें गद्य-प से संबंधित सभी रचनाएँ समाहित हो जाती हैं।

(क) साहित्य के आधार पर काव्य-भेद

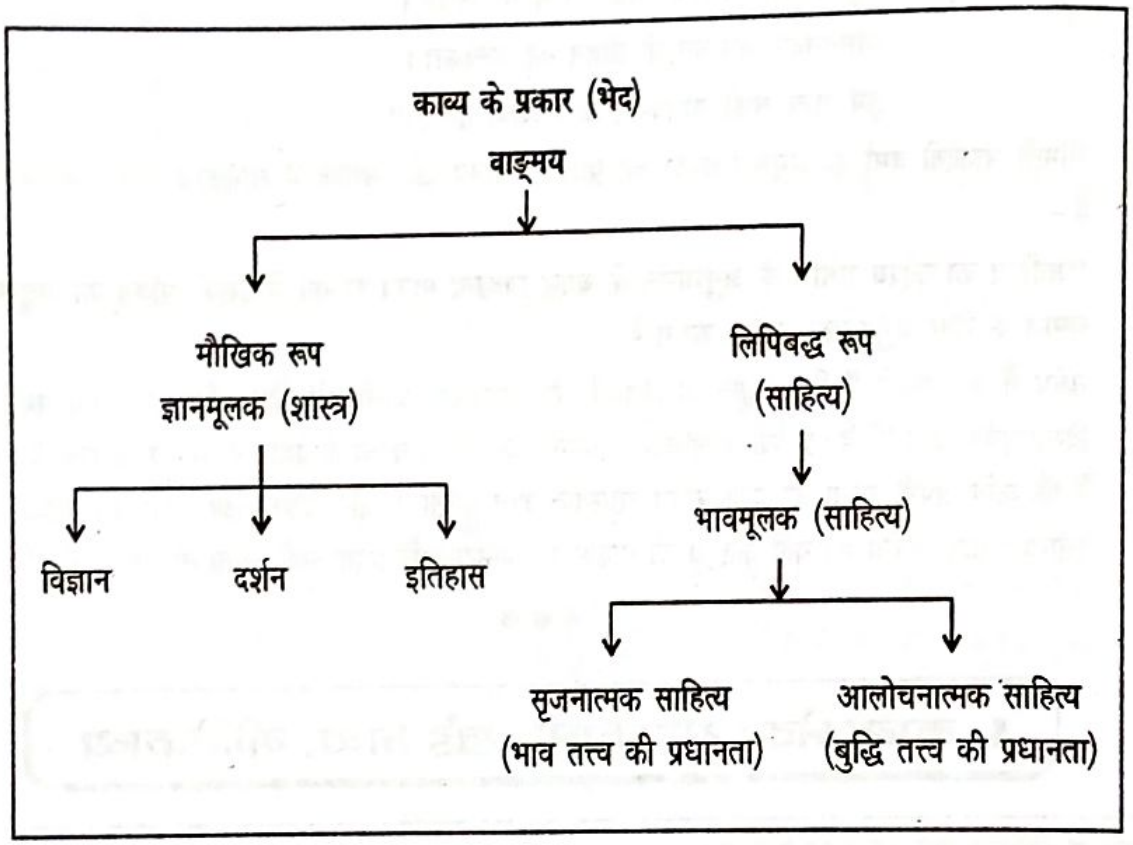

1. ज्ञानमूलक साहित्य–ज्ञानमूलक साहित्य में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता होती है। इसके अन्तर्गत विज्ञान, सभी प्रकार के शास्त्र, दर्शन, इतिहास, भूगोल आदि को समाहित किया जा सकता है।

2. भावमूलक साहित्य–इसमें कल्पना और अनुभूति के द्वारा प्राप्त सत्य की अभिव्यक्ति की जाती है। यदि हम ज्ञानमूलक और भावमूलक साहित्य की तुलना करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानमूलक साहित्य में बुद्धि तथा उससे उत्पन्न तर्क को प्रमुखता दी जाती है, परंतु भावमूलक साहित्य में मानव की हृदयगत अनुभूतियों तथा कल्पनाओं को प्रमुख स्थान दिया जाता है भाव प्रधान वाङ्मय को ही साहित्य अथवा काव्य कहा जाता है। भावमूलक साहित्य के भी दो प्रकार माने गए हैं–सृजनात्मक और विश्लेषणात्मक।

सृजनात्मक साहित्य के अन्तर्गत कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी आदि असंख्य विधाओं की चर्चा की जाती है परंतु सृजनात्मक साहित्य के उत्कर्ष और अपकर्ष को लेकर जो विश्लेषण किया जाता है उसे विश्लेषणात्मक या आलोचनात्मक साहित्य कहते हैं। सृजनात्मक साहित्य में हृदय तत्त्व की प्रधानता होती है परंतु विश्लेषणात्मक साहित्य में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता होती है

काव्य के प्रकारों को समझने के लिए निम्नलिखित तालिका की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है–

(ख) इन्द्रियों के आधार पर काव्य के भेद–उपकरण अर्थात् इन्द्रियों के आधार पर काव्य के प्रमुख दो भेद हैं–**दृश्य काव्य** तथा **श्रव्य काव्य**।

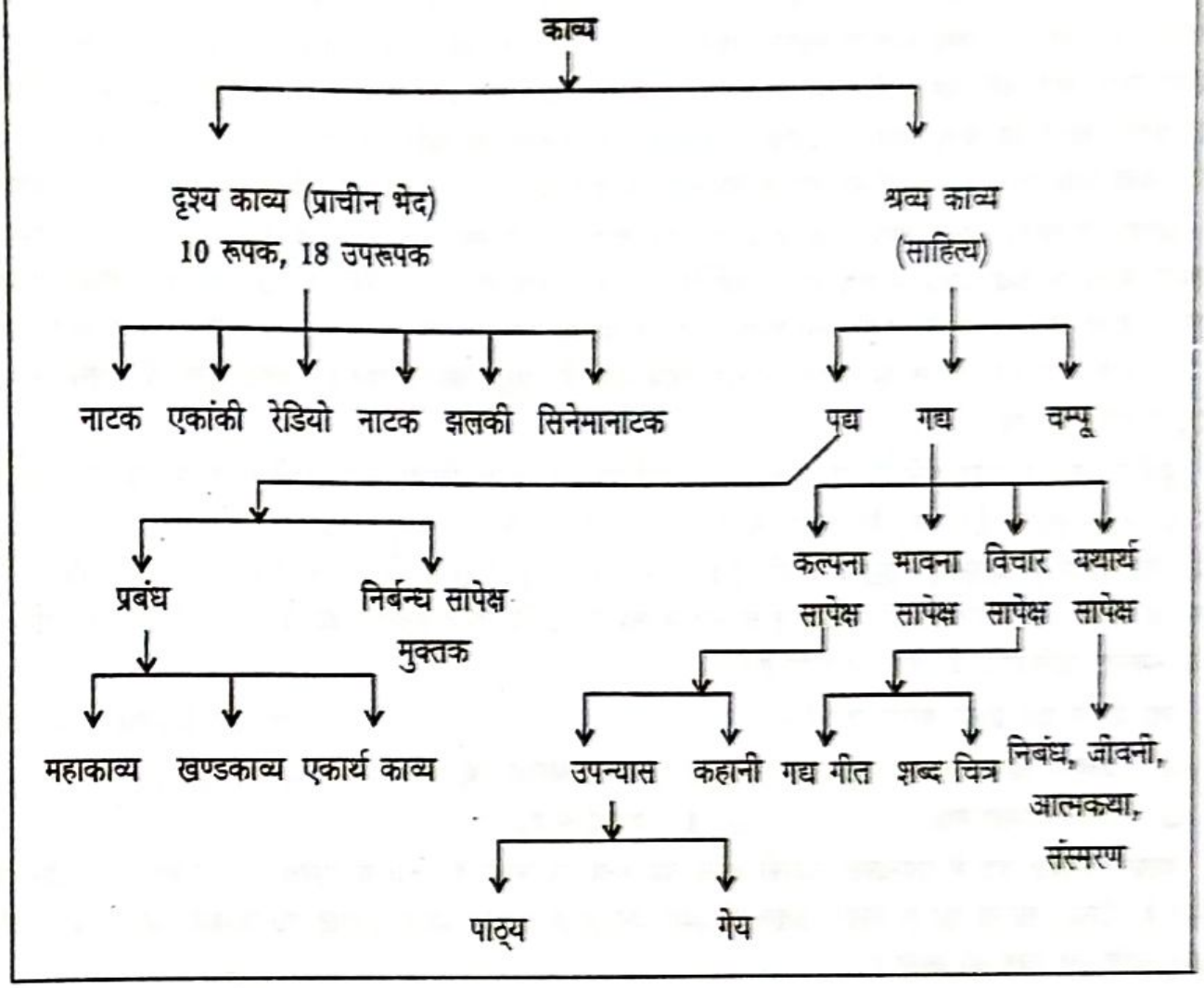

दृश्य काव्य के अन्तर्गत रूपक के दस भेद और उपरूपक के 18 भेद सम्मिलित हैं। इनका आस्वादन सहृदय रंगमंच पर हुए अभिनय के द्वारा प्राप्त करता है। अर्थात् इन्हें आँखों से देखकर ही आनन्द की अनुभूति होती है। यही कारण है कि इनको दृश्य काव्य कहा गया है। रूपक के अनेक भेदों में नाटक को प्रमुख स्थान दिया जाता है। आज लगभग सभी भेद समाप्त हो चुके हैं। इनके स्थान पर एकांकी, रेडियो, रूपक, झलकी आदि नए भेद प्राप्त होने लगे हैं। दृश्य काव्य के प्रमुख भेद हैं—नाटक, एकांकी, सिनेमा, चित्र, रेडियो, रूपक, झलकी आदि।

1. दृश्य काव्य—प्राचीन काल में दृश्य काव्य को विशेष महत्त्व दिया जाता था। उस समय लगभग सभी नाटक रंगमंच पर अभिनीत होते थे। परंतु मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार के फलस्वरूप आधुनिक युग में नाटक पाठ्य बनकर रह गए हैं। उदाहरण के रूप में प्रसाद जी द्वारा रचित सभी नाटक पाठ्य नाटक हैं, न कि अभिनय नाटक। उनके द्वारा रचित नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत करना बड़ा ही कठिन है। कुछ विद्वानों का तो यह कहना है कि आज दृश्य काव्य अव्यावहारिक हो चुका है परंतु अन्य विद्वानों का कहना है कि विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप दृश्य नाटकों को भी रंगमंच पर अभिनीत किया जा सकता है।

2. श्रव्य काव्य—आकार की दृष्टि से श्रव्य काव्य के तीन भेद हैं—पद्य, गद्य और चम्पू। छंदोबद्ध रचना को 'पद्य' कहते हैं एवं छंदहीन रचना 'गद्य' कहलाता है, परंतु गद्य और पद्य के मिश्रित रूप को 'चम्पू' कहा जाता है। पद्य के अन्तर्गत महाकाव्य (प्रबंध काव्य), खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य, गीतिकाव्य आदि की चर्चा की जाती है। गद्य साहित्य में उपन्यास, कहानी, निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, रिपोर्ताज, डायरी आदि अनेक विधाओं की चर्चा की जा सकती है।

बंध की दृष्टि से पद्य काव्य के दो भेद हैं—प्रबंध और निर्बन्ध। प्रबंध वह काव्य कहलाता है जिसमें एक कथानक या घटना का पूर्वापद संबंध होता है जिसमें विचार और भाव सुसम्बद्ध होते हैं परंतु निर्बन्ध काव्य में कोई पूर्वापद संबंध नहीं होता, प्रत्येक पद्य स्वतंत्र होता है। इसे मुक्तक काव्य भी कहते हैं। प्रबंध काव्य के पुनः दो भेद हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य में सर्वांगीण जीवन का वर्णन होता है और उसके अनुसार भावों की उदारता, विशालता होती है। खण्डकाव्य में जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण भाग का भावपूर्ण वर्णन होता है। खण्डकाव्य में भी कोई कथानक या घटना अवश्य होती है, परंतु उसमें वह विशालता नहीं होती जो कि महाकाव्य के कथानक में होती है। महाकाव्य का शाब्दिक अर्थ है—बड़ा काव्य और खण्डकाव्य का शाब्दिक अर्थ है—छोटा काव्य।

चम्पू काव्य वह काव्य है जिसमें गद्य और पद्य दोनों शैलियों का मिश्रण होता है। इसे मिश्र काव्य भी कहा गया है। प्राचीनकाल में इसके लिए चम्पू नाम ही प्रचलित था। जयशंकर प्रसाद ने 'उर्वशी' के नाम से एक चम्पू काव्य की रचना की पर यह काव्य विधा आगे नहीं चल सकी। वैसे तो नाटक में भी पद्य और गद्य का मिश्रण होता है, लेकिन उसे चम्पू काव्य नहीं कह सकते। कारण यह है कि चम्पू काव्य में अलंकारों, समासों तथा कल्पना का विशेष महत्त्व रहता है, जबकि नाटक में संवादों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'यशोधरा' को चम्पू काव्य कहा जा सकता है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने प्रबंध काव्य और खण्डकाव्य के मध्य एकार्थ काव्य की भी रचना की। उनका कहना है कि एकार्थ काव्य के कथा प्रवाह में मोड़ या तो नहीं होते या बहुत कम होते हैं। उन्होंने साकेत, कामायनी, वैदेही, वनवास आदि को एकार्थ काव्य की संज्ञा दी है। परंतु बाबू गुलाब राय इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि वे रचनाएँ एकार्थ काव्य कही जा सकती हैं जिनमें संक्षिप्त घटना का क्रमबद्ध वर्णन रहता है। उद्धव शतक, राम की शक्ति पूजा, वीर, पंचरत्न, गंगावतरण आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं।

पूर्वापर प्रसंग से मुक्त होने के कारण तथा स्वतः पूर्ण भाव के सजीव चित्रण करने वाली रचना मुक्तक कहलाती है। इसके भी दो प्रकार हैं—पाद्य और गेय। वैसे पाद्य भी गेय हो सकता है। फिर गेय तत्त्व की प्रधानता होने के कारण दो प्रकार बनाए गए हैं। गीतिकाव्य में व्यक्तिगत सुख-दुःख की तीव्र अनुभूति की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति होती है। इसमें संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, रागात्मकता आदि कुछ विशेषताएँ हैं। उदाहरण के रूप में बिहारी के दोहे पाद्य मुक्तक कहे जा सकते हैं तथा सूर, मीरा, महादेवी वर्मा के मुक्तक गीतिकाव्य के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

गद्य के भी चार प्रकार बताए गए हैं—

1. कल्पना सापेक्ष गद्य
2. भावना सापेक्ष गद्य
3. विचार सापेक्ष गद्य
4. यथार्थ सापेक्ष गद्य

कल्पना सापेक्ष गद्य में उपन्यास, कहानी आदि की चर्चा की जाती है। भावना सापेक्ष गद्य में गद्य गीत और शब्द चित्र समाहित हैं। विचार सापेक्ष गद्य में निबंध लेखन की चर्चा की जाती है और यथार्थ सापेक्ष गद्य जीवनी, आत्मकथा, यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज आदि की चर्चा की जाती है।

(ग) व्यंग्य की प्रमुखता के आधार पर काव्य भेद—व्यंग्य की प्रमुखता को आधार बनाकर पुनः काव्य के तीन भेद किए गए हैं। आचार्य मम्मट ने इसी दृष्टि से तीन भेदों की चर्चा की है—

1. ध्वनि काव्य
2. गुणीभूत काव्य
3. चित्र काव्य

परंतु पंडित जगन्नाथ ने चार प्रकारों की चर्चा की है—

1. उत्तमोत्तम काव्य
2. उत्तम काव्य
3. मध्यम काव्य
4. अधम काव्य

जीवन के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर काव्य के पुनः दो भेद किए गए हैं—

1. यथार्थवादी काव्य
2. आदर्शवादी काव्य

यथार्थवादी काव्य में जीवन के यथार्थ का वर्णन किया जाता है, जबकि आदर्शवादी काव्य में आदर्शवाद की स्थापना की जाती है।

कवि की मनोवृत्ति को आधार बनाकर पुनः दो प्रकार बताए गए हैं—

1. विषयीगत
2. विषयगत

विषयीगत काव्य में कवि निजी सुख-दुःख का अधिक वर्णन करता है। उदाहरण के रूप में जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'आँसू' नामक काव्य रचना विषयीगत काव्य है। लेकिन विषयगत काव्य में कवि शेष सृष्टि के साथ अपना संबंध स्थापित कर भावनाओं को व्यक्त करता है। महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों को विषयगत काव्य कहा जा सकता है।

संक्षेप में काव्य के अनेक भेद हो सकते हैं। विषयीगत काव्य को अंग्रेजी में लिरिक कहते हैं और विषयगत काव्य को नैरेटिव कहते हैं। काव्य के इन भेदों के बावजूद अनुभूति की अभिव्यक्ति को किसी निश्चित रूप में सीमित नहीं किया जा सकता। एक कुशल कवि हमेशा नवीन प्रयोगों का आश्रय लेता रहता है। उदाहरण के रूप में मैथिलीशरण गुप्त ने एक नवीन प्रयोग करते हुए 'यशोधरा' की रचना की जिसे कुछ विद्वानों ने चम्पू काव्य की भी संज्ञा दी परंतु इसे चम्पू काव्य कदापि नहीं कहा जा सकता। फिर भी जब कोई नया रूप प्रयोग में आ जाता है तो लक्षणकार उसके लिए कोई-न-कोई नवीन नाम की रचना कर लेते हैं।

◆◆◆

2. काव्य के प्रमुख प्रबंध रूप महाकाव्य का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए। **(Most Imp.)**

अथवा

महाकाव्य के स्वरूप का परिचय दीजिए।

अथवा

महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए तथा उसके तत्त्वों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

महाकाव्य का स्वरूप और तत्त्व निर्धारित कीजिए।

उत्तर–महाकाव्य : अर्थ एवं स्वरूप–पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि काव्य के दो प्रमुख भेद हैं–दृश्य काव्य तथा श्रव्य काव्य। शैली के आधार पर पद्य, गद्य तथा चम्पू काव्य के तीन भेद किए गए हैं। पुनः पद्य काव्य को प्रबंध तथा मुक्तक दो प्रकारों में विभक्त किया गया है। प्रबंध के भी दो भेद हैं–महाकाव्य तथा खण्डकाव्य। महाकाव्य में कथानक की विशालता और उदारता होती है। उसमें जीवन की समग्रता का चित्रण रहता है, परंतु खण्डकाव्य में जीवन की किसी एक घटना अथवा अंश का चित्रण होता है। महाकाव्य के बारे में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं–

(क) भारतीय आचार्यों का मत–

महाकाव्य काव्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा मानी जाती है। इसमें जीवन की समग्रता का कलात्मक ढंग से चित्रण किया जाता है। सभी देशों और भाषाओं के आचार्यों ने महाकाव्य के बारे में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। **'अग्निपुराण कार ने सर्ग बंधोः महाकाव्यम्'** कहते हुए इसकी परिभाषा दी है। इसका अर्थ है कि महाकाव्य में अनेक सर्ग होते हैं परंतु यह कहने मात्र से महाकाव्य के लक्षण पूरे नहीं हो जाते। यही कारण है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के बारे में बड़ी विस्तृत चर्चा की है। महाकाव्य का अर्थ है–महान काव्य अर्थात् ऐसा काव्य जिसे हम महान कह सकते हैं। इसका मतलब यह है कि महाकाव्य का कथानक, नायक, आयाम और उद्देश्य सब कुछ महान होना चाहिए। संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' में इस संदर्भ की चर्चा की गई है। जब लव-कुश ने महाराजा राम के दरबार में वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' का पाठ किया तो उनसे तीन प्रश्न किए गए थे–

(i) इस महाकाव्य का विस्तार कितना है?

(ii) इसमें किस महात्मा की प्रतिष्ठा वर्णित है?

(iii) इसका रचयिता श्रेष्ठ मुनि पुंगव कहाँ हैं?

किं प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्ता काव्यस्य महतः क्व चासौ मुनि पुंगवः।।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकाव्य का आकार निश्चय ही विस्तृत होता है। उसमें किसी महापुरुष के जीवन का वर्णन होता है और उसका रचनाकार भी कोई महान कवि ही होता है।

• **भामह**–ये अलंकारवादी आचार्य थे। उन्होंने सर्वप्रथम अपनी रचना 'काव्यालंकार' में महाकाव्य के लक्षणों पर चर्चा की–

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ च सालंकार सदाश्रयम्।।
मंत्रदूत प्रयाणाजिन नायकाभ्युदयं च यत्।
पंचभिः सन्धिभिर्युक्तं नाति व्याख्येयमृद्धिमत्।।

"महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। वह महानता का महान प्रकाशक होता है। उसमें निर्दोष शब्दार्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए। उसमें विचार-विमर्श, दूत, प्रयाग, युद्ध, नायक का अभ्युदय–ये पाँच संधियाँ हैं। बहुत गूढ़ न हो, उत्कर्षयुक्त हो। चतुर्वर्ग-आदेश होने पर भी प्रधानतः अर्थ उपाविष्ट हो। लोक स्वभाव का वर्णन और सभी रसों का पृथक् चित्रण हो। नायक के कुल, बल, शास्त्रज्ञान आदि का उत्कर्ष जताकर और किसी के उत्कर्ष के लिए नायक का वध नहीं करना चाहिए।"

• **आचार्य दण्डी**—दण्डी भी एक अलंकारवादी आचार्य थे। महाकाव्य के बारे में इन्होंने महाकाव्य के बारे में एक परिभाषा दी। उनकी काव्य रचना का नाम है 'काव्यादर्श'। दण्डी ने अपनी ओर से कोई नई बात नहीं की फिर भी उनकी सर्गबद्धता, आरंभ में मंगलाचरण—आशीर्वचन रूप, नमस्कार रूप अथवा वस्तु निर्देश रूप, ऐतिहासिक कथानक, नायक के चतुर धीरोदात्त नायक, नगर, ऋतु, पर्वत तथा जल विहार आदि का वर्णन, कुमार, विवाह, पुत्रोत्पत्ति आदि प्रसंगों की योजना, दूत प्रेषण आदि रस, अलंकार, भाव आदि का समावेश, श्रुति मधुर छंद योजना तथा शैलियों की अवतारणा को महाकाव्य के लिए आवश्यक माना।

• **रुद्रट**—दण्डी के बाद आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य के तत्त्वों का विवेचन किया। परंतु उनका विवेचन दण्डी की अलंकारवादी मान्यताओं की सर्वथा विपरीत है। उनकी परिभाषा में कुछ नवीन मान्यताएँ देखी जा सकती हैं। अपनी रचना 'काव्यालंकार' में रुद्रट ने महाकाव्य की जो परिभाषा दी है, उनके अनुसार निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(i) महाकाव्य में उत्साह अथवा अनुत्साह किसी भी प्रकार का लम्बा पद्यबद्ध कथानक होता है।

(ii) उसमें प्रसंगानुसार अवान्तर कथाएँ भी होती हैं जो कि मूल आधिकारिक कथा का पोषण करती हैं।

(iii) कथा सर्गबद्ध तथा नाटकीय तत्त्वों पर आधारित होती है।

(iv) इसमें जीवन की समग्रता के साथ प्रधान घटना का वर्णन होता है। साथ ही प्रकृति, नगर तथा वाटिका का भी वर्णन होता है।

(v) द्विज, सर्वगुण सम्पन्न, महान वीर, शक्तिमान, नीतिज्ञ, व्यवहार कुशल, महापुरुष राजा आदि नायक होता है।

(vi) महाकाव्य में प्रतिनायक भी होता है।

(vii) महाकाव्य में नायक की विजय तथा प्रतिनायक की पराजय दिखाई जाती है और यह एक प्रकार की सुखान्त रचना होती है।

(viii) इसमें भले ही अलौकिक तत्त्वों का वर्णन होता है परंतु असंभव या अस्वाभाविक घटनाओं का वर्णन नहीं होता।

(ix) इसमें महान उद्देश्य होता है और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से किसी एक की प्रतिष्ठा होती है।

(x) महाकाव्य में नायक के वंश की प्रशंसा और उसके नगर का सुंदर वर्णन होता है तथा सभी रसों की योजना होती है।

इस प्रकार आचार्य रुद्रट ने महाकाव्य के लिए महान घटना, महान चरित्र, महान उद्देश्य और समग्र जीवन के रसात्मक वर्णन को आवश्यक माना। रुद्रट की महाकाव्य संबंधी मान्यताएँ दण्डी की मान्यताओं की अपेक्षा अधिक व्यापक होते हुए भी परवर्ती मान्यकारों को मान्य नहीं हो सकीं।

• **आचार्य आनन्दवर्धन**—इन्होंने रस को महत्त्व देते हुए महाकाव्य के तत्त्वों का उल्लेख किया। इन्होंने केवल तीन बातों पर बल दिया कि प्रबंध काव्य में विभावादि का औचित्य होना चाहिए। कथानक ऐतिहासिक अथवा कल्पित हो सकता है। उन्होंने कथानक में संधि, सन्ध्यगुणों की समुचित योजना पर भी बल दिया और यह भी कहा कि अलंकारों की योजना रसानुभूत होनी चाहिए।

आनन्दवर्धन के पश्चात् आचार्य हेमचन्द्र ने एक बार पुनः महाकाव्य की परिभाषा देने का प्रयत्न किया। उनका कथन था—**'महाकाव्य में अग्राम्य भाषा, सर्गबद्धता, संधि योजना तथा अलंकार विचित्र की योजना होनी चाहिए।'** परंतु हेमचन्द्र के द्वारा दी गई यह परिभाषा दण्डी की मान्यताओं का ही अनुकरण है। उन्होंने अपनी ओर से कोई नवीन विचार नहीं रखा।

• **आचार्य विश्वनाथ**—संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य विश्वनाथ का विशेष स्थान है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों का समाहार तो किया। परंतु दण्डी द्वारा दी गई परिभाषा को अधिक महत्त्व प्रदान किया। फिर भी उनके द्वारा दी गई महाकाव्य संबंधी परिभाषा काफी मौलिक मानी जाती है। उनके मतानुसार—

(i) महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए। सर्ग न तो अधिक बड़े होने चाहिएँ न अधिक छोटे। पुनः सर्गों की संख्या आठ से अधिक नहीं होनी चाहिए, प्रत्येक सर्ग का नामकरण भी किया जाना चाहिए। सर्ग के अन्त में आगामी कथा की सूचना तथा छंद परिवर्तन भी होना चाहिए।

(ii) महाकाव्य का कथानक इतिहास प्रसिद्ध अथवा सज्जनाश्रित होना चाहिए। उसमें नाटक की सभी संधियों की योजना भी होनी चाहिए।

(iii) महाकाव्य का नायक उच्चवंश उत्पन्न क्षत्रिय अथवा देवता होना चाहिए। वह शूरवीर तथा धीरोदत्त गुणों से युक्त होना चाहिए।

(iv) शृंगार, वीर तथा शांत रसों में से कोई एक रस प्रमुख होना चाहिए तथा अन्य रस अंग रूप में होने चाहिए।

(v) महाकाव्य में प्रकृति वर्णन के अतिरिक्त जीवन से जुड़े हुए अन्य सजीव प्रसंगों का भी वर्णन होना चाहिए।

(vi) महाकाव्य में फलनिन्दा तथा सज्जनों के गुणों का वर्णन होना चाहिए।

(vii) महाकाव्य के आरंभ में आशीर्वाद वचन के साथ वस्तु का निर्देश भी होना चाहिए।

(viii) महाकाव्य में चतुर्वर्ग में से किसी एक प्राप्त का भी उल्लेख होना चाहिए।

(ix) महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, पर्वत, समस्त ऋतुओं, वन-उपवन, संयोग-शृंगार, वियोग शृंगार, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, विवाह, यात्रा आदि अनेक प्रसंगों का उल्लेख होना चाहिए।

(x) महाकाव्य का नामकरण कवि, चरित अथवा चरित नायक के नाम पर किया जाना चाहिए।

प्रायः सभी संस्कृत आचार्यों ने कथावस्तु, नायक, रस, उद्देश्य आदि तत्त्वों को प्रमुखता प्रदान की है। सभी ने सर्गबद्धता पर भी बल दिया है। कथानक की ऐतिहासिकता तथा यथास्थान, नवीन, प्रसंग योजना पर भी बल दिया गया है। पुनः सभी आचार्यों ने धीरोदात्त कोटि के नायक को अधिक महत्त्व दिया है। साथ ही चतुर्वर्ग की समग्र रूप से या एक की प्राप्ति की भी चर्चा की है।

(ख) पाश्चात्य विद्वानों का मत–

पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य के बारे में अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं–

- अरस्तू के अनुसार, **"महाकाव्य वह काव्य-रूप है, जिसमें कथात्मक अनुकृति की प्रधानता होती है। इसकी रचना 'हेक्सा मीटर' में होती है। इसका कथानक दुःखान्त नाटक के समान अन्विति-युक्त होता है। इसमें किसी आद्यान्त घटना का पूर्ण वर्णन होता है। कथावस्तु में आदि, मध्य और अन्त का सजीव एवं हृदयस्पर्शी वर्णन होता है। उसमें पाठकों को समुचित आनंद प्रदान करने की सामर्थ्य होती है। महाकाव्य के रचयिता को इतिहास से ऐसी सामग्री लेनी चाहिए, जिसमें वह इतिहास से भिन्न अन्विति दिखा सके। उसमें ऐसी आवंतर कथावस्तु का समावेश भी किया जा सकता है जिसके द्वारा जीवन के विविध पक्षों और वस्तु व्यापारों का चित्रण किया जा सके।"**
- डब्ल्यू. पी. केर के अनुसार, **"महाकाव्य के चरित्रों का चित्रण उनके सम्पूर्ण रूप में किया जाता है जिससे इसमें स्वाभाविकता, वृत्तियाँ, क्रियाकलापों तथा उनका जीवन स्पष्ट हो जाता है। महाकाव्य की सफलता चरित्र-चित्रण पर निर्भर होती है।"**
- एम्बर क्राम्बी–इन्होंने स्वीकार किया है कि **"आकार वैविध्य के कारण कोई काव्य-कृति महाकाव्य नहीं कही जा सकती। महाकाव्य कहलाने के लिए उसकी रचना महाकाव्य शैली में होनी चाहिए। यह शैली कवि-कल्पना, उसके विचार तथा अभिव्यक्ति पर निर्भर है।... महाकाव्य में पुष्ट, स्पष्ट और प्रतीकात्मक दृष्टिकोण होता है।"**
- सी.एस. बावरा के अनुसार, **"महाकाव्य एक वृहद्, कथात्मक काव्य रूप है। इसमें कुल पात्रों के क्रियाशील एवं भयंकर कार्यों से पूर्ण जीवन की कथा होती है। ये घटनाएँ तथा पात्र जीवन के कार्य, मानव महत्ता, गौरव तथा उपलब्धियों के प्रति आस्था दृढ़ करते हैं। अतः हम उनसे (महाकाव्यों) आनंद प्राप्त करते हैं।"**
- डब्ल्यू. एम. डिक्सन के अनुसार, **"महाकाव्य ऐसे नायक का चित्रण करता है जो किसी देश अथवा आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है और जो उसकी विजय के साथ विजयी होता है। वह कोई महान अथवा महत्त्वपूर्ण व्यापार हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। उसी प्रकार नाटक का पात्र भी महान अथवा महत्त्वपूर्ण होते हैं। उसी रचना में एक गरिमा होती है। नाटक की तुलना में महाकाव्य के व्यापार की गति मंद होती है। उसमें घटना-बहुभूल्य होता है। मानव जीवन की जितनी ही विस्तृत भूमिका का उसमें ग्रहण होता है, उतनी ही सफलता महाकाव्य को मिलती है।"**

(ग) आधुनिक हिन्दी विद्वानों का मत–

महाकाव्य को अनेक आधुनिक हिन्दी आचार्यों ने भी परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनमें से कुछ के मत निम्नवत् हैं–

- **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने महाकाव्य संबंधी संस्कृत की धारणाओं की उपेक्षा की और महाकाव्य के केवल चार लक्षण अथवा तत्त्व स्वीकार किए–

  (i) इतिहास (ii) वस्तु व्यापार वर्णन (iii) भाव-व्यंजना (iv) संवाद योजना।

  इसके साथ-साथ उन्होंने शैली की प्रौढ़ता और संदेश की मान्यता को भी महत्त्वपूर्ण माना है।

- **डॉ. नगेन्द्र** एक रसवादी आचार्य थे। उनका झुकाव पाश्चात्य विद्वान लौंजाइन्स के औदात्य सिद्धांत की ओर अधिक था। उन्होंने महाकाव्य के पाँच तत्त्व स्वीकार किए हैं–

  (i) उदात्त कथानक (ii) उदात्त कार्य (iii) उदात्त भाव

  (iv) उदात्त चरित्र (v) उदात्त शैली

- **बाबू गुलाब राय** का मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। उन्होंने कहा है–**"महाकाव्य वह विषय-प्रधान काव्य है जिसमें अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति, प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है।"**

- **डॉ. भगीरथ मिश्र** ने भी महाकाव्य के बारे में अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। महाकाव्य के तत्त्व हैं–**"महान कथानक, महान चरित्र, महान संदेश और महान शैली। इन सभी महत् तत्त्वों से संगठित होने पर कोई भी काव्य महाकाव्य की संज्ञा प्राप्त करता है।"**

महाकाव्य के तत्त्व/विशेषताएँ–उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् महाकाव्य के निम्नलिखित तत्त्वों एवं विशेषताओं की चर्चा की जा सकती है–

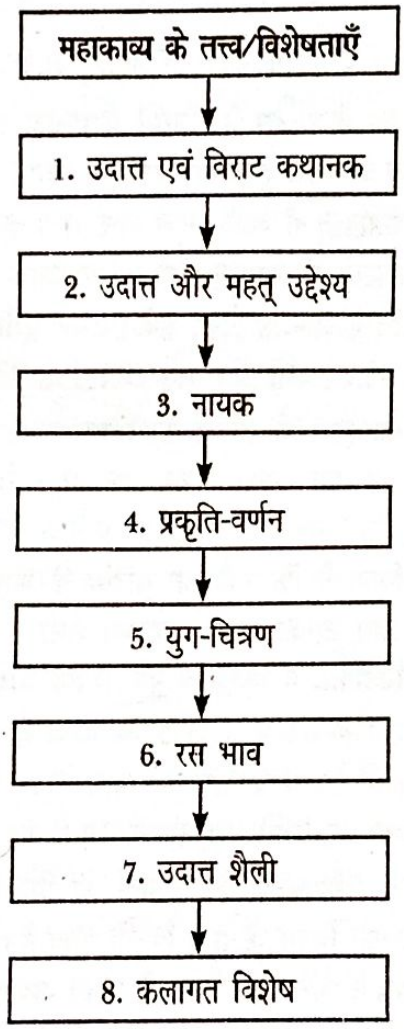

1. उदात्त एवं विराट कथानक–महाकाव्य का कथानक उदात्त और व्यापक क्षेत्र से चुना जाना चाहिए। यही कारण है कि प्राचीनकाल में कथानक की ऐतिहासिकता पर विशेष बल दिया जा सकता है। आज भी कवि पुराण अथवा इतिहास से कथानक का चयन करते हैं और उसमें अपनी कल्पना का भी मिश्रण करते हैं। वस्तुतः कथानक चयन के लिए कवि स्वतंत्र है परंतु उसे इस बात का ध्यान रखना होता है कि कथानक के लिए जिन प्रसंगों तथा घटनाओं का चयन किया गया हो, वे सरस होनी चाहिए। यही कारण है कि आजकल कवि महाकाव्य में युग की समस्याओं और जीवन की यथार्थ संवेदनाओं का वर्णन करते हैं। कथानक का चयन करने के बाद कवि को संबंध निर्वाह की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। कथानक के साथ-साथ जो प्रासंगिक कथाएँ ली जाएँ वे मुख्य कथानक के विकास में सहायक होनी चाहिएँ अन्यथा उनकी प्रासंगिकता समाप्त हो जाएगी। इसी प्रकार कथानक में नाट्य संधियों की योजना भी की जानी चाहिए। यदि वर्णन विविध प्रकार के हैं तो उनमें स्वाभाविकता अवश्य होनी चाहिए अन्यथा कथानक उदात्त नहीं बन सकेगा।

2. उदात्त और महत् उद्देश्य—महाकाव्य का कोई-न-कोई उद्देश्य तो होता ही है, परंतु यह उद्देश्य महान होना चाहिए। महाकाव्य की रचना भी महान उद्देश्य के लिए होती है उसकी सार्थकता महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्धि में है, अतः महाकाव्य में सर्गों का परिष्कार करने वाले उदात्त भाव होने चाहिएं। महाकाव्य का उद्देश्य नैतिकता को प्रश्रय देने वाला, महान धार्मिक तत्त्वों से समन्वित, पुष्ट, स्पष्ट तथा प्रतीकात्मक होना चाहिए। देशकाल की दृष्टि से वह गतिशील, सार्वकालिक और सार्वदेशिक होना चाहिए। महाकाव्य में श्रेय को भी प्रेय रूप में उपस्थित किया जाना चाहिए। महाकाव्य में सिद्धांत अथवा नीति का प्रतिपादन करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि वह पाठकों द्वारा सर्वग्राह्य हो। महाकाव्य का उद्देश्य पाठकों में उदात्त भावों को उत्पन्न करने वाला तथा उनकी प्रवृत्तियों को परिष्कृत करने वाला होना चाहिए।

3. नायक—भारतीय महाकाव्य में यह स्पष्ट किया गया है कि नायक देवता, ब्राह्मण अथवा उच्च कुल में उत्पन्न व्यक्ति हो। वह धीर, वीर, उदात्त और जातीय जीवन की विशेषताओं से युक्त होना चाहिए। महाकाव्य के अन्य पात्र भी भद्र, कुलीन, वैभवशाली, यशस्वी तथा सहज मानवीय गुण-दोषों से युक्त होने चाहिए परंतु आजकल के महाकाव्यों में उदात्त नायक की परंपरा लुप्त हो चुकी है। आज के नायक में दुर्बलताओं के साथ-साथ सबलताएँ भी होनी चाहिएं। नायक का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक, सजीव, सरल तथा स्पष्ट होना चाहिए। महाकाव्य में नायक के साथ-साथ खलनायक की योजना होना भी अनिवार्य है।

4. प्रकृति-वर्णन—महाकाव्य में प्रकृति के सभी रूपों का वर्णन होना चाहिए। इसमें उषा, संध्या, रजनी, ऋतु, चन्द्रमा, तारे, पर्वत, नदी, वन प्रदेश आदि का वर्णन भी होना चाहिए। महाकाव्य में प्रकृति के आलंबन, उद्दीपन, पृष्ठभूमि, उपदेशिका, मानवीकरण आदि सभी रूपों का वर्णन होना चाहिए। प्रकृति के यदि रमणीय रूप का वर्णन हो तो साथ ही भयंकर रूप का वर्णन भी होना चाहिए। आधुनिक महाकाव्यों में 'साकेत', 'प्रियप्रवास', 'कामायनी' आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इन महाकाव्यों में प्रकृति के सभी रूपों का वर्णन देखा जा सकता है। संस्कृति में रामायण, महाभारत, रघुवंश, कुमारसंभव आदि प्रसिद्ध महाकाव्य हैं। इनमें भी प्रकृति का विशद् वर्णन देखा जा सकता है।

5. युग-चित्रण—आजकल प्रत्येक कवि युग-धर्म से पूर्णतया परिचित है। यही कारण है कि उसमें युग सापेक्ष काव्य रचना की है। यही कारण है कि महाकाव्य में अपने युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा समस्याओं का वर्णन देखा जा सकता है। महाकाव्यकार अपनी रचना में पारस्परिक सहानुभूति, आशा की विशालता, पीड़ितों का कष्ट निवारण, मानव कल्याण, विश्वबन्धुत्व की भावना, दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण, न्याय, धर्म तथा संस्कृति का चित्रण होता है। तात्पर्य यह है कि महाकाव्य में युवा की समस्याओं के प्रति सरोकार होना चाहिए। उदाहरण के रूप में 'प्रिय प्रवास' कृष्ण और राधा के पौराणिक आख्यान को आधार बनाकर लिखा गया है लेकिन उसमें तत्कालीन युग की समस्याओं पर भी प्रभाव डाला गया है।

6. रस भाव—एक सफल महाकाव्य में भावों की व्यंजना उदात्त रूप में होती है परंतु जीवन की समग्रता की व्यंजना करने वाले रस भाव विभिन्न परिस्थितियों के संदर्भ में ही प्रस्तुत होने चाहिए। महाकाव्य का रस भाव उदात्त और व्यापक होने पर ही सहृदय के आनंद को प्रदान कर सकेगा। महाकाव्य में शृंगार, वीर और शांत में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिए, लेकिन अन्य रसों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। उदात्त रसभाव से युक्त महाकाव्य ही अमर हो सकता है।

7. उदात्त शैली—महाकाव्य की शैली भी उदात्त और विशाल होनी चाहिए। उसकी भाषा सरल, स्वाभाविक, सजीव और प्रभावशाली हो। अरस्तू ने गरिमा और प्रसाद गुण को महाकाव्य की शैली के लिए आवश्यक माना है। महाकाव्य की भाषा में असामान्य शब्द-प्रयोग, वाक्य-रचना तथा मुहावरों का प्रयोग भी अनिवार्य है क्योंकि इससे भाषा-शैली का धरातल ऊंचा हो जाता है। इसके साथ-साथ महाकाव्य की भाषा-शैली में शब्द-शक्तियों, लोकोक्तियों तथा अलंकारों का प्रयोग भी होना चाहिए। शैली के अन्तर्गत प्रसंगानुसार विविध छंदों की योजना तथा संगीतात्मकता का विन्यास भी करना चाहिए।

8. कलागत विशेषताएँ—महाकाव्य में निम्नलिखित कलागत विशेषताएँ अपेक्षित हैं—

(i) महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए। सर्गों की संख्या कम-से-कम आठ या उससे अधिक हो सकती है। सर्ग न तो अधिक बड़े होने चाहिए, न अधिक छोटे। सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग के कथानक की रचना होनी चाहिए। सर्ग का नामकरण उसकी विषय-वस्तु के आधार पर किया जाना चाहिए।

(ii) महाकाव्य का कथानक विवरणात्मक होना चाहिए, उसकी कथा गंभीर तथा विस्तृत होनी चाहिए तथा उसमें आरंभ, मध्य तथा अवसान नहीं होना चाहिए।

(iii) महाकाव्य की रचना नाटकीय ढंग से होनी चाहिए। उसकी कथा संघर्षपूर्ण और मिश्रित होनी चाहिए।

(iv) महाकाव्य में प्रतीकात्मकता भी होनी चाहिए जो कि व्यष्टिगत न होकर समष्टिगत होनी चाहिए।

(v) महाकाव्यों में छंदों का सुंदर प्रयोग होना चाहिए। एक सर्ग में एक ही छंद हो या विभिन्न छंद हों या विभिन्न छंदों का प्रयोग भी हो सकता है।

(vi) महाकाव्य की भाषा में अलंकारों का प्रयोग भावानुकूल होना चाहिए।

(vii) महाकाव्य का नामकरण कवि इतिवृत्त या नायक या प्रमुख पात्र या घटना के आधार पर होना चाहिए।

(vii) महाकाव्य में चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए।

इस संदर्भ में **डॉ. सत्यदेव चौधरी** ने महाकाव्य के उद्देश्य की महानता और उसकी सिद्धि के लिए निम्नलिखित विशेषताओं को उचित माना हैं–

(i) मानववादी जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा हो;

(ii) युगीन जीवनादर्शों की स्थापना हो;

(iii) रचना का सांस्कृतिक उन्नयन में योगदान हो;

(iv) उन्नत जीवन-दर्शन हो; तथा

(v) संजीवनी शक्ति प्रदान करने की क्षमता हो।

◆◆◆

(ख) खंडकाव्य

3. खण्डकाव्य से आप क्या समझते हैं? खंडकाव्य के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डालिए। (Imp.)

अथवा

खण्डकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसके तत्त्वों का विवेचन कीजिए।

अथवा

खण्डकाव्य की परिभाषा देते हुए इसके लक्षण बताइए।

उत्तर–खंडकाव्य : अर्थ एवं स्वरूप–भारतीय काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम आचार्य रूद्रट ने प्रबंध काव्य के महत् और लघु रूप बताए हैं। लघु से उनका अभिप्राय खण्डकाव्य था लेकिन अलंकारवादी आचार्य भामह और दण्डी ने कहीं भी लघु काव्य का उल्लेख नहीं किया। खंडकाव्य संबंधी प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ/मत निम्नलिखित हैं–

(क) खंडकाव्य संबंधी संस्कृत के विद्वानों का मत

पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि आचार्य रूद्रट ने खण्डकाव्य के लिए लघुकाव्य शब्द का प्रयोग किया है, खण्डकाव्य भी सर्गबद्ध काव्य होता है, परंतु रूद्रट ने महाकाव्य और लघुकाव्य के अंतर की ओर भी संकेत किया है। वे लिखते हैं–

"यत्र महान्तो येषु च विनस्तेष्वमिधीयते,
चतुर्सर्गः सर्वे रसाः क्रियते काव्यस्थानानि सर्वाणि।
ते लघवो विशेयायष्वन्यतमो भवेच्चतु–
वर्गति असमग्रनेकरसा ये च समग्रेकर संयुक्ताः।।"

अर्थात् "लघुकाव्य (खण्डकाव्य) का उद्देश्य चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति में से किसी एक फल की प्राप्ति होती है। उसमें अनेक रस असमग्र रूप से होते हैं अथवा कोई एक रस ही पूर्ण रूप से निष्पन्न होता है। लेकिन महाकाव्यों में चारों फलों की प्राप्ति के उद्देश्य के साथ-साथ अनेक फलों की पूर्ति होती है।"

आचार्य वर्धन ने प्रबंध काव्य के लिए सर्गबद्ध होना आवश्यक माना है। परंतु उनका अभिप्राय महाकाव्य से था। अपनी रचना 'ध्वन्यालोक' में उन्होंने कहीं पर भी लघुकाव्य अथवा खण्डकाव्य की ओर संकेत नहीं किया।

आचार्य विश्वनाथ को ही खण्डकाव्य के नाम और उसकी कल्पना का श्रेय दिया जा सकता है। उन्होंने भाषा या विभाषा में रचित सर्गबद्ध, समस्त संधियों से रचित एक कथा की निरूपक पद्यबद्ध रचना को काव्य की संज्ञा दी और एक देश का अनुसरण करने वाले रचना को खण्डकाव्य कहा। वे **साहित्य दर्पण** में लिखते भी हैं–

"भाषा विभाषनियमात्काव्यं सर्ग समुत्थितं।
एकार्यप्रवणैः पद्यः सन्धिसागवग्यवर्जितम्।।
खण्डकाव्य भवेत्काव्यस्येकदेशानुसारि च।"

विश्वनाथ ने एक अन्य परिभाषा भी दी है–

"तत्तु घटना प्राधान्यात् खण्डकाव्यमिति स्मृतम्।"

इस परिभाषा के अनुसार एक घटना विशेष को लेकर लिखा गया काव्य खण्डकाव्य कहलाता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में किसी अन्य विद्वान ने खण्डकाव्य के बारे में कोई परिभाषा नहीं दी। परंतु हिन्दी के विद्वानों ने खण्डकाव्य के बारे में परिभाषाएँ दी हैं क्योंकि आधुनिक हिन्दी साहित्य में कुछ खण्डकाव्य लिखे गए हैं। **पं. विश्वनाथ प्रसाद दीक्षित** ने खण्डकाव्य की परिभाषा दी है–**"खण्डकाव्य वह है, जिसकी रचना महाकाव्य के ही ढंग पर की गई है और जिसमें पूर्ण जीवन ग्रहण कर खण्ड जीवन ग्रहण किया जाता है। यह खण्ड जीवन इस प्रकार ग्रहण किया जाता है कि रचना में पूर्ण जीवन प्रतीत होता है।"** मिश्र जी की उपयुक्त परिभाषा के अनुसार खण्डकाव्य में खण्ड जीवन का चित्रण होता है अर्थात् कवि जीवन के किसी एक अंश का खण्डकाव्य में वर्णन करता है।

डॉ. शम्भूनाथ सिंह ने महाकाव्य और खण्डकाव्य की तुलना करते हुए खण्डकाव्य की निम्नलिखित परिभाषा दी है–

"सामान्यतः आठ या आठ से अधिक सर्गो वाले प्रबंध काव्य को महाकाव्य और आठ से कम सर्गो वाले काव्य को खण्डकाव्य माना जाता है। परंतु यह वैज्ञानिक विभाजन नहीं है। महाकाव्य वही प्रबंध काव्य माना जाएगा जिसमें महान उद्देश्य, महान चरित्र, युग जीवन का चित्रण, गरिमामयी और उदात्त शैली आदि महाकाव्य के सभी गुण पाए जाएँ। इसके विपरीत जिनमें जीवन का खण्ड दृश्य चित्रित होता है और जो कथावस्तु की लघु तथा उद्देश्य सीमाओं के कारण वृहदाकार तथा महान नहीं कहे जाते, खण्डकाव्य कहलाते हैं।"

(ख) खंडकाव्य संबंधी पाश्चात्य विद्वानों के मत–

पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य की तो न केवल स्पष्ट परिभाषा दी है, बल्कि महाकाव्य को नाटक के समीप का दर्जा दिया है। यही नहीं उन्होंने महाकाव्य को उपन्यास के भी समकक्ष रखा है। भले ही दोनों में बहुत बड़ा अंतर है क्योंकि महाकाव्य पद्ययात्मक रचना है और उपन्यास गद्यात्मक। इन विद्वानों ने खण्डकाव्य के बारे में कहीं चर्चा नहीं की। ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्चात्य विद्वानों ने खण्डकाव्य की परिकल्पना ही नहीं की। यदि किसी पाश्चात्य काव्य रचना में खण्ड जीवन का वर्णन किया भी गया हो तो उसे भी गरिमामयी उदात्त शैली के फलस्वरूप महाकाव्य की ही संज्ञा दी गई है, उसे खण्डकाव्य नहीं कहा गया।

(ग) खंडकाव्य संबंधी हिन्दी विद्वानों के मत–

कुछ आधुनिक हिन्दी विद्वानों ने खण्डकाव्य की आवश्यक परिभाषाएँ दी हैं–

डॉ. शकुंतला दुबे के अनुसार, **"खण्डकाव्य उस अनुभूति के स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसमें जीवन सम्पूर्ण रूप में कवि को प्रभावित न करके आंशिक या खण्डरूप में ही प्रभावित करता है। अतः खण्डकाव्य में जीवन का सर्वांगीण चित्रण न होकर किसी एक अत्यंत रोचक एवं मार्मिक पक्ष का उद्घाटन होता है।"**

हिन्दी में कुछ ऐसे गीतिकाव्य भी लिखे गए हैं जिनमें खण्डजीवन का चित्रण हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त की रचना **'यशोधरा'** ऐसी ही कृति है। इसकी रचना गीति रूप में अवश्य हुई है, परंतु इसमें सर्गबद्धता नहीं है। इसके स्वरूप को देखते हुए इसे खण्डकाव्य कहना ही उचित होगा। संस्कृत में खण्डकाव्य का स्वरूप तो निर्देशित कर दिया गया परंतु संस्कृत भाषा की किसी ऐसी काव्य रचना का उदाहरण नहीं दिया गया जिसे सही अर्थों में खण्डकाव्य कहा जा सके। कालिदास रचित **'मेघदूत'** को खण्डकाव्य कहा जाता है परंतु इसके अनुकरण में जो **'संदेश काव्य'** की रचना की गई उसे गीतिकाव्य माना गया, न कि खण्डकाव्य। **डॉ. कृष्ण लाल हंस** का विचार है कि संस्कृत के आचार्य खण्डकाव्य की स्वतंत्र और स्पष्ट परिभाषा नहीं दे सके। फलस्वरूप उनकी

दृष्टि में खण्डकाव्य और गीतिकाव्य में कोई अंतर नहीं था। यही नहीं, संस्कृत साहित्य में कुछ ऐसे कथाकाव्य भी प्राप्त हुए जो महाकाव्य की कसौटी पर खरे नहीं उतर सके। लेकिन उन्हें निश्चित रूप से **'खण्डकाव्य'** की संज्ञा नहीं दी जा सकती। फिर भी ये रचनाएँ महाकाव्य की अपेक्षा खण्डकाव्य के अधिक निकट हैं।

हिन्दी साहित्य में **'पृथ्वीराज रासो'** को महाकाव्य माना गया है, लेकिन उसमें पृथ्वीराज के समग्र जीवन का चित्रण नहीं हुआ। उसे खण्डकाव्य कहना उचित होगा। फिर भी गरिमामयी उदात्त शैली के कारण पृथ्वीराज रासो को महाकाव्य ही कहा जाता है, खण्डकाव्य नहीं कहा जाता और यह उचित भी है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल और मध्यकाल में अनेक छोटे-बड़े कथाकाव्यों की रचना हुई है। कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के खण्डजीवन का चित्रण किया है। इनमें चन्द्रप्रकाश, जयसिंह प्रकाश, शिवराज भूषण, भवानी प्रकाश, छत्रप्रकाश आदि के उदाहरण दिए जा सकते हैं। काव्य भेद की दृष्टि से इन्हें खण्डकाव्य कहना ही उचित होगा। आधुनिककालीन हिन्दी साहित्य में भी कुछ खण्डकाव्यों की रचना हुई है। इस संदर्भ में मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित **'जयद्रथ वध'**, **'पंचवटी'**, **'सिद्धराज'**, **'नहुष'** आदि, सियारामशरण द्वारा रचित **'मौर्य विजय'**, रामनरेश त्रिपाठी द्वारा रचित **'पथिक'** तथा प्रसाद जी द्वारा रचित **'प्रेम पथिक'** प्रसिद्ध खण्डकाव्य हैं। निराला द्वारा रचित **'तुलसीदास'** भी एक खण्डकाव्य है।

कुछ विद्वानों ने 'राम की शक्ति पूजा' को भी खण्डकाव्य की संज्ञा दी है। निश्चय ही अंग्रेजी साहित्य में भी खण्डकाव्यों की रचना हुई है, परंतु किसी भी पाश्चात्य विद्वान ने खण्डकाव्य की स्पष्ट परिभाषा नहीं दी। संक्षेप में खण्डकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है–

''खण्डकाव्य वह काव्य रचना है जिसकी रचना महाकाव्य के समान की गई हो, परंतु जिसमें समग्र जीवन का वर्णन न करके खण्ड जीवन का वर्णन किया जाता है परंतु यह खण्डजीवन इस प्रकार से वर्णित किया जाता है कि वह अपने आप में पूर्ण प्रतीत होता है।''

खण्डकाव्य की विशेषताएँ–

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर खण्डकाव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. खण्डकाव्य में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण न होकर जीवन के किसी एक महत्त्वपूर्ण पहलू अथवा खण्ड को आधार बनाकर कथानक की योजना की जाती है।
2. खण्डकाव्य में एक छोटी कथा होती है जो किसी बड़ी कथा का अंश होती है। इसमें न तो प्रासंगिक कविताएँ होती हैं और न ही उपकथाएँ होती हैं। यह छोटी-सी कथा बड़ी तीव्र गति से अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है।
3. प्रायः खण्डकाव्य में पाँच से सात तक सर्ग होते हैं लेकिन सर्गों का निर्धारण आवश्यक भी नहीं है। इतना अवश्य है कि खण्डकाव्य की छोटी-सी कथा से सुसम्बद्धित और सुगठित होती है।
4. खण्डकाव्य के कथानक में एकात्मक अन्विति और एकदेशीयता होती है।
5. खण्डकाव्य में वर्णन विस्तार नहीं होता फिर भी इसमें आरंभ, मध्य तथा अंत अवश्य रहता है। इसका अंत चरम विकास के साथ उद्देश्य को प्राप्त करता है।
6. खण्डकाव्य का कथानक ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा सांस्कृतिक हो सकता है। कभी-कभी विशेष आदर्श से मुक्त जीवन के अंश को भी आधार बनाकर खण्डकाव्य की रचना हो सकती है।
7. खण्डकाव्य का प्रतिपाद्य विषय कोई आदर्श चरित्र, जीवन-दर्शन या जीवन की घटना हो सकती है। कभी-कभी युगीन परिस्थिति या समस्या भी खण्डकाव्य का प्रतिपाद्य हो सकती है। लेकिन इसका कवि के व्यक्तित्त्व के साथ तादात्म्य अवश्य होता है।
8. खण्डकाव्य में कवि का दृष्टिकोण महाकाव्य की अपेक्षा अधिक वस्तुपरक और व्यक्तिपरक रहता है।
9. खण्डकाव्य में महाकाव्य के समान नाटकीय तत्त्वों तथा नाट्य संधियों की योजना भी होती है।
10. खण्डकाव्य के कथानक में प्रभावान्विति तथा विशेष वर्णन प्रवाह भी होता है। कारण यह है कि प्रभावान्विति के बिना खण्डकाव्य पाठकों को प्रभावित नहीं कर सकता।
11. खण्डकाव्य में नायक के वंश, कुल, गोत्र आदि के विस्तार के लिए कोई स्थान नहीं है लेकिन नायक के गुणों का उल्लेख अवश्य होना चाहिए। खण्डकाव्य का नायक धीर ललित तथा धीर प्रशांत होना चाहिए।

12. खण्डकाव्य में एक-से-अधिक रसों की योजना हो सकती है। लेकिन किसी एक रस की प्रधानता होनी जरूरी है। शेष रस अंगी रूप में हो सकते हैं।
13. वस्तु के भाव प्रधान होने के कारण खण्डकाव्य में गीतिकाव्य की भांति प्रवणता तथा तीव्र अनुभूति स्वभावतः दिखाई देते हैं। यही विशेषण खण्डकाव्य को चरित्र काव्य, कथाकाव्य और महाकाव्य से भिन्न रूप प्रदान करती है।
14. खण्डकाव्य में भले ही गौण पात्रों की योजना रहती है, परंतु उनका चारित्रिक विकास पूर्ण रूप से नहीं होता। फिर भी खण्डकाव्य के चरित्र-चित्रण में रोचकता, स्वाभाविकता आदि गुण अवश्य होने चाहिए।
15. महाकाव्य की अपेक्षा खण्डकाव्य के स्वभाव अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। ये सांकेतिक तथा श्लेष गर्भित होते हैं। पुनः खण्डकाव्य के संवाद पात्रानुकूल और प्रसंगानुकूल होने चाहिए।
16. खण्डकाव्य में देशकाल की आर्थिक योजना नहीं होती, केवल पात्रों की वेशभूषा, हाव-भाव तथा कथा प्रसंग के द्वारा वातावरण का निर्माण किया जाता है।
17. खण्डकाव्य में अधिक छंद नहीं होते, कभी-कभी तो सम्पूर्ण खण्डकाव्य एक ही छंद में रचित होते हैं। परंतु यह कोई स्थायी नियम नहीं है। खण्डकाव्य में एक से अधिक छंदों का प्रयोग भी हो सकता है।
18. आधुनिक खण्डकाव्यों में गीतों का प्रयोग भी होने लगता है। यही कारण है कि गीतों का प्रयोग खण्डकाव्य की एक विशेषता बन चुकी है।

खण्डकाव्य के भेद–

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने खण्डकाव्य के भेदों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। यहाँ तक कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरंभ में खण्डकाव्यों के भेदों की कोई चर्चा नहीं की गई लेकिन **डॉ. शकुंतला दुबे** ने खण्डकाव्य का विभाजन दो प्रकार से किया है–

(i) लोक से उद्भूत लोकरंजन के लिए निर्मित खण्डकाव्य।

(ii) देशी या विदेशी परम्परा से उद्भूत साहित्य मर्मज्ञ सहृदयों के लिए निर्मित खण्डकाव्य।

◆◆◆

(ग) महाकाव्य और खण्डकाव्य में अंतर

4. *महाकाव्य और खण्डकाव्य में अंतर बताते हुए खण्डकाव्य पर एक आलेख लिखिए।*

उत्तर–महाकाव्य और खंडकाव्य में अंतर–संस्कृत के आचार्य विश्वनाथ को 'खण्डकाव्य' नाम और उसकी निश्चित कल्पना का श्रेय दिया जा सकता है। उन्होंने भाषा या विभाषा में रचित सर्गबद्ध समस्त संधियों से रचित एक कथा की निरूपक पद्यबद्ध रचना को काव्य की संज्ञा दी और एक देश का अनुसरण करने वाले को खण्डकाव्य कहा अर्थात् खण्डकाव्य वहाँ माना जाता है जहाँ काव्य के एक देश का अनुसरण किया जाए।

"खण्डकाव्य भवेत् काव्यास्यैकदेशानुसारि च।"

इस संदर्भ में **पंडित विश्वनाथ प्रसाद दीक्षित** द्वारा दी गई परिभाषा का उल्लेख करना आवश्यक होगा–**"खण्डकाव्य वह है जिसकी रचना महाकाव्य के ही ढंग पर की गई है और जिसमें पूर्ण जीवन न ग्रहण कर खण्ड जीवन ग्रहण किया जाता है। यह खण्डजीवन इस प्रकार ग्रहण किया जाता है कि रचना में पूर्ण जीवन प्रतीत होता है।"**

इसके साथ-साथ **डॉ. शम्भूनाथ सिंह** ने महाकाव्य और खण्डकाव्य की जो परिभाषा दी है, वह काफी सही प्रतीत होती है–

"सामान्यतः आठ या आठ से अधिक सर्गों वाले प्रबंध काव्य को महाकाव्य और आठ से कम सर्गों वाले काव्य को खण्डकाव्य माना जाता है। परंतु यह वैज्ञानिक विभाजन नहीं है। महाकाव्य प्रबंध काव्य माना जाएगा जिसमें महान उद्देश्य, महान चरित्र, युग जीवन का चित्रण, गरिमामयी और उदात्त शैली आदि महाकाव्य के सभी गुण पाए जाएँ। इसके विपरीत जिनमें जीवन का खण्ड दृश्य चित्रित होता है और जो कथावस्तु की लघु तथा उद्देश्य सीमाओं के कारण वृहदाकार तथा महान नहीं कहे जाते, खण्डकाव्य कहलाते हैं।"

इतना तो निश्चित है कि खण्डकाव्य की रचना महाकाव्य के समान ही होती है, परंतु महाकाव्य में समग्र जीवन का वर्णन रहता है परंतु खण्डकाव्य में जीवन के किसी अत्यंत रोचक तथा मार्मिक पक्ष, प्रसंग या घटना का वर्णन होता है। महाकाव्य और खण्डकाव्य में वही अंतर है जो उपन्यास और कहानी में होता है। महाकाव्य में उपन्यास के समान एक महान उद्देश्य अथवा महान संदेश होता है जो कि जीवन के समग्र रूप से बधित होता है। परंतु खण्डकाव्य का कोई-न-कोई उद्देश्य होता है जो कि जीवन के किसी मार्मिक पक्ष या प्रसंग से जुड़ा रहता है। निम्नलिखित दृष्टियों से महाकाव्य और खण्डकाव्य में पर्याप्त अंतर देखा जा सकता है–

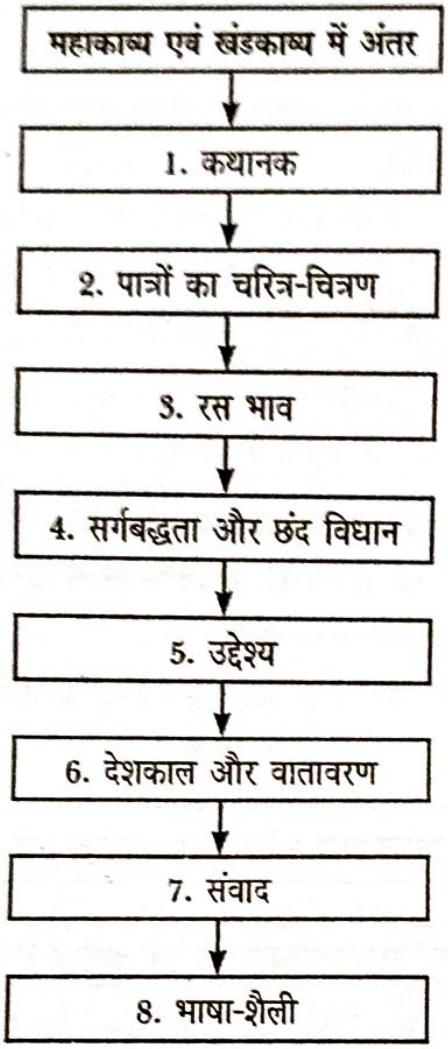

1. कथानक–खण्डकाव्य और महाकाव्य में तात्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। प्रायः जो तत्त्व महाकाव्य में होते हैं वही लगभग खण्डकाव्य में भी होते हैं। परंतु आकार स्वरूप की भिन्नता के फलस्वरूप खण्डकाव्य में महाकाव्य के तत्त्वों का संकोच हो जाता है। महाकाव्य का कथानक अत्यंत विस्तृत होता है। उसमें विभिन्न प्रकार के वर्णन तथा प्रासंगिक कथाएँ होती हैं जिसके फलस्वरूप उसका आकार विस्तृत बन जाता है। उदाहरण के रूप में 'रामचरितमानस' भक्तिकालीन एक महाकाव्यात्मक रचना है। कुछ आलोचकों ने इसे हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य भी कहा है। इसका कथानक तो विस्तृत है ही, इसके साथ-साथ अनेक प्रकार के वर्णन भी हैं। यही नहीं, इसमें प्रासंगिक कथाएँ भी जुड़ी हुई हैं। फलस्वरूप इसका आकार बहुत ही विस्तृत है। इसके विपरीत खण्डकाव्य का आकार छोटा होता है। उसमें न तो कथा का विस्तार होता है और न ही प्रासंगिक कथाओं का जमघट होता है। फिर भी कथा संबंधी कुछ बातें दोनों में समान रूप में होती हैं। आचार्य रूद्रट ने खण्डकाव्य को लघुकाव्य की संज्ञा दी है। खण्डकाव्य में विस्तृत कथानक न होकर कोई कथा प्रसंग होता है, लेकिन खण्डकाव्य का कवि किसी मार्मिक कथा प्रसंग का चयन करता है जो कि बहुत ही रोचक होता है परंतु कथा संगठन इसकी भी उल्लेखनीय विशेषता है।

2. पात्रों का चरित्र-चित्रण–महाकाव्य में खण्डकाव्य की अपेक्षा पात्रों की संख्या अधिक होती है। परंतु खण्डकाव्य में पात्रों की संख्या बहुत कम होती है। उदाहरण के रूप में 'रामचरितमानस' में अनेक पात्र हैं और गोस्वामी तुलसीदास ने प्रत्येक पात्र का समुचित चरित्र-चित्रण किया है। रामकथा से ही 'पंचवटी' नामक खण्डकाव्य का कथांश चुना गया है। इसमें पात्रों की संख्या बहुत कम है। इसी प्रकार 'सुदामाचरित' का नायक सुदामा स्वयं है। अन्य पात्रों में सुदामा की पत्नी, श्रीकृष्ण, उनकी पत्नी रुक्मिणी, द्वारपाल आदि कुछ सीमित पात्र हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि खण्डकाव्य में पात्रों की संख्या बहुत कम होती है। दूसरा खण्डकाव्य

में चरित्र की रेखाएँ संक्षेप में दी जाती हैं। इसमें विस्तार के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। महाकाव्य का नायक उच्चकुलोत्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा देवता होना चाहिए। 'पंचवटी' का नायक लक्ष्मण भी श्रेष्ठ क्षत्रिय वंश है। दूसरी ओर 'सुदामा चरित' का नायक उच्च वंश का ब्राह्मण है। खण्डकाव्य में अन्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भी संक्षेप में दिया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि खण्डकाव्य का आकार एवं स्वरूप महाकाव्य की अपेक्षा छोटा होता है।

3. रसभाव—महाकाव्य में शृंगार, वीर और शांत इन तीनों रसों में से कोई भी प्रधान होता है। अन्य रस अंग रूप होते हैं। इसके विपरीत खण्डकाव्य में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। उसमें किसी एक रस का परिपाक प्रधान रूप से किया जाता है। अन्य सभी रस गौण रूप में होते हैं। कभी-कभी खण्डकाव्य में किसी एक रस का परिपाक नहीं दिखाया जाता, परंतु किसी उदात्त भाव का चरम उत्कर्ष दिखाकर पाठक को मुग्ध कर दिया जाता है। उदाहरण के रूप में रामचरितमानस नामक महाकाव्य में शांत रस का परिपाक हुआ है। इसे भक्ति रस भी कह सकते हैं। अन्य रस अंग रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। परंतु 'सुदामाचरित' नामक खण्डकाव्य में किसी विशेष रस का चमत्कार नहीं दिखाया गया। केवल मैत्री भाव का ही चरम उत्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

4. सर्गबद्धता और छंद विधान—भारतीय काव्यशास्त्रियों का कहना है कि महाकाव्य विषय से सर्गबद्ध होना चाहिए और उसमें कम-से-कम आठ सर्गबद्ध होने चाहिए। प्रत्येक सर्ग में छंद का प्रयोग होना चाहिए और सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन भी होना चाहिए। हिन्दी के अधिकांश महाकाव्यों में इस नियम का पालन किया गया है। यही नहीं, सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग के कथानक की ओर संकेत भी कर दिया गया है परंतु खण्डकाव्य में ऐसा नियम लागू नहीं होता। उसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि छंद योजना भावानुकूल होनी चाहिए। उदाहरण के रूप में सुदामाचरित में एक ही पृष्ठ में दोहा, कवित्त, सवैया आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। यही स्थिति लगभग अन्य खण्डकाव्यों की है। कारण यही है कि खण्डकाव्य में महाकाव्य की अपेक्षा अभिनेता की मात्रा अधिक होती है। फलस्वरूप कवि पात्र, स्थिति और भाव परिवर्तन के साथ ही छंद का भी परिवर्तन कर देता है।

5. उद्देश्य—महाकाव्य का उद्देश्य महत्, गहन और युगान्तरव्यापी होता है अर्थात् महाकाव्य के द्वारा कवि एक शाश्वत् संदेश देना चाहता है। परंतु यह नियम खण्डकाव्य पर लागू नहीं हो सकता, क्योंकि खण्डकाव्य का उद्देश्य मात्र उपदेश है, जबकि महाकाव्य का उद्देश्य कोई-न-कोई संदेश देता है। संदेश हमेशा सनातन और मानवतावादी होता है। परंतु उपदेश केवल काल सापेक्ष होता है। रामचरितमानस का उद्देश्य महत्त, गहन और युगान्तरव्यापी है। यह समूची मानव जाति को एक महान संदेश देता है परंतु 'सुदामाचरित' नामक खण्डकाव्य में केवल काल सापेक्ष उपदेश दिया गया है। खण्डकाव्य में महाकाव्य के समान कोई महान संदेश नहीं होता।

6. देशकाल तथा वातावरण—महाकाव्य एक व्यापक और विस्तृत पृष्ठभूमि पर आधारित होता है। इसलिए इसमें देशकाल का विस्तार आवश्यक माना गया है, परंतु खण्डकाव्य का परिवेश सीमित होता है। इसीलिए उसमें देशकाल का विस्तार नहीं होता। खण्डकाव्य का कवि पात्रों के हाव-भाव, संवाद तथा प्रतीक के माध्यम से युग-धर्म का निर्वाह करता है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि महाकाव्य का देशकाल बहुत ही विस्तृत होता है, परंतु खण्डकाव्य का देशकाल सीमित होता है। उसमें विस्तार के लिए कोई स्थान नहीं है।

7. संवाद—चूँकि महाकाव्य में पात्रों की संख्या अधिक होती है। इसलिए उसमें संवाद भी अधिक होते हैं। कुछ स्थलों पर तो लम्बे-लम्बे संवाद होते हैं। उदाहरण के रूप में केशवदास द्वारा रचित 'रामचन्द्रिका' रीतिकाल का प्रसिद्ध महाकाव्य माना गया है। यह महाकाव्य अपने संवादों के लिए प्रसिद्ध है। इसमें लक्ष्मण-परशुराम संवाद, अंगद-रावण संवाद तथा राम-रावण संवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये संवाद बड़े ही लम्बे और रोचक भी हैं। इसी प्रकार 'रामचरितमानस' में लक्ष्मण-परशुराम-संवाद अत्यन्त रोचक और प्रभावशाली है, परंतु खण्डकाव्य में इस प्रकार के संवादों के लिए कोई स्थान नहीं हैं। उसके संवाद संक्षिप्त, चुस्त, चुटीले, रोचक, स्वाभाविक, पात्रानुकूल तथा प्रसंगानुकूल होते हैं। खण्डकाव्य में लम्बे संवाद वर्जित है। संक्षिप्त संवादों के कारण ही खण्डकाव्य में नाटकीयता का स्वतः ही समावेश हो जाता है। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने नाटकीयता को खण्डकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना है।

8. भाषा-शैली—जहाँ तक भाषा-शैली का प्रश्न है, महाकाव्य और खण्डकाव्य की भाषा-शैली में कोई विशेष अंतर नहीं है, फिर भी महाकाव्य की भाषा कुछ स्थलों पर जटिल हो जाती है। खण्डकाव्य में सहज, सरल, सजीव, बोधगम्य तथा प्रवाहमयी भाषा का प्रयोग होना चाहिए। खण्डकाव्य में शब्द-चयन इस प्रकार का होता है कि उससे अर्थ व्यंजना में सहायता मिलती है। सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति खण्डकाव्य की उल्लेखनीय विशेषता मानी गई है। महाकाव्य के विपरीत खण्डकाव्य की पूरी रचना में एक छंद का भी प्रयोग हो सकता है और अनेक छंदों का भी। छंद योजना को लेकर खण्डकाव्य के बारे में कोई निश्चित नियम नहीं है।

जहाँ महाकाव्य में सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निंदा, प्रकृति वर्णन आवश्यक माना गया है, वहाँ खण्डकाव्य में इस सबके लिए कोई स्थान नहीं है। यह कहना भी उचित नहीं होगा कि महाकाव्य उपन्यास है और खण्डकाव्य कहानी है। इतना अवश्य है कि महाकाव्य में जो तत्त्व विस्तृत रूप से दिए जाते हैं, खण्डकाव्य में उन तत्त्वों का सीमित रूप में प्रयोग किया जाता है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि खण्डकाव्य में आख्यान का होना कोई आवश्यक नहीं है। उसमें वस्तु विस्तार सीमित होता है और प्रासंगिक कथाओं का भी अभाव रहता है। यहाँ तक कि सर्गबद्धता और छंद के नियम भी खण्डकाव्य में शिथिल होते हैं। इस संदर्भ में **डॉ. सत्यदेव चौधरी** ने उचित ही लिखा है–**''खण्डकाव्य किसी काव्य-रूप का खण्ड मात्र नहीं है। वस्तुतः यह शब्द अनुभूति के उस प्रभाव की ओर संकेत करता है जिसमें जीवन अपने सम्पूर्ण रूप में प्रभावित न होकर आंशिक या खण्डरूप में ही प्रभावित करता है।''** खण्डकाव्य में कुछ अतिरिक्त गुण भी होते हैं। उसमें प्रभावान्विति तथा वर्णन प्रवाह अवश्य होने चाहिए। इतना निश्चित है कि खण्डकाव्य में भावान्तर कथाओं तथा अनुषांगिक चर्चाओं का सर्वथा परिष्कार किया जाता है, जबकि महाकाव्य में भावान्तर कथाएँ भी होती हैं और अनुषांगिक चर्चाएँ भी होती हैं। फिर भी क्रिया व्यापार को गतिशील बनाने के लिए संक्षिप्त, ओजस्वी तथा तर्कपूर्ण संवादों की योजना होनी चाहिए। खण्डकाव्य में भले ही पात्रों की संख्या कम हो, परंतु उसमें चरित्र-चित्रण के फलस्वरूप पात्र विशेष की चारित्रिक विशेषताओं का उद्‌घाटन अवश्य होना चाहिए। इससे खण्डकाव्य प्रभावशाली बन जाता है। इस संदर्भ में **डॉ. शकुन्तला दुबे** ने उचित ही लिखा है–**''खण्डकाव्य की प्रेरणा के मूल में अनुभूति का स्वरूप एक सम्पूर्ण जीवन खण्ड की प्रभावात्मकता से बनता है। जीवन के मर्मस्पर्शी खण्ड का बोधमात्र कवि के हृदय में नहीं होता। प्रत्युत उसका समन्वित प्रभाव उसके हृदय पर पड़ता है। तब प्रेरणा के बल पर जो रूप खड़ा होता है, वह खण्डकाव्य कहलाता है।''**

◆◆◆

(घ) गीतिकाव्य

5. गीतिकाव्य से आप क्या समझते हैं? गीतिकाव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालिए। **(Most Imp.)**

अथवा

गीतिकाव्य की परिभाषा देते हुए उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिए।

अथवा

प्रगीत काव्य के स्वरूप और परिभाषा का विवेचन करते हुए उसकी प्रवृत्तियों तथा भेदों का विवेचन करें।

उत्तर–गीतिकाव्य : अर्थ एवं स्वरूप–कुछ विद्वानों ने गीतिकाव्य को मुक्तक काल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय विधा कहा है। इसे प्रगीत मुक्तक भी कहा जाता है। गीतिकाव्य का अर्थ है–**''वह काव्य जो गाया जा सके''**। परंतु प्रत्येक गाए जाने वाले काव्य कोगीतिकाव्य नहीं कह सकते। गीतिकाव्य में तीव्रानुभूति, भावातिरेक, वैयक्तिकता, संगीतात्मकता आदि गुण अवश्य होने चाहिए। भारत में 'गीत' शब्द की परम्परा प्राचीनतम मानी गई है। यही कारण है कि गीत अथवा संगीत मानव-जीवन में विशेष महत्त्व रखता है। एक अबोध शिशु भी संगीत की मधुर स्वर लहरी को सुनकर रोना बंद कर देता है। आरंभ में गीतों के अर्थ की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। जो कुछ भी लय के साथ गाया जाता था, उसे लोकगीत मान लेते थे। परंतु आज ऐसा नहीं है। इतना निश्चित है कि मानव की स्वाभाविक रागप्रियता के कारण ही गीतों का उद्‌भव हुआ।

गीतिकाव्य को प्रगीत काव्य भी कहा जाता है। भारत के नाट्य-शास्त्र में गीत शब्द का प्रयोग मिलता है। यह एक प्राचीनतम प्रमाण है। अमरकोश में गीत के बारे में लिखा गया है–**'गीतं मान मिमे समे।'**

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में गीत शब्द का तो प्रयोग होता था, परंतु गीतिकाव्य का नहीं। इसलिए गीतिकाव्य को सर्वाधिक नवीन और सशक्त विधा भी कहा है। सर्वप्रथम लोचन प्रसाद पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'कविता कुसुम माला' में 'गीतिकाव्य' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने 'गीतिकाव्य' को एक स्वतंत्र काव्य विधा माना और काव्य के तीन भेद किए–गीतिकाव्य, श्रव्यकाव्य तथा दृश्यकाव्य। उनका विचार है कि गीतिकाव्य का विकास लोकगीतों से हुआ है। यही नहीं, पाण्डेय जी ने बौद्धों के चर्चा गीतों में 'गीतिकाव्य' को खोजने का प्रयास किया है। इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने गीतिकाव्य को पश्चिमी साहित्य की देन माना है। अंग्रेजी साहित्य में इसे लिरिक (Lyric) कहते हैं। लिरिक शब्द 'लायर' नामक वाद्य यंत्र की सहायता से गाया जाता है। ये विद्वान गीति को लिरिक का ही रूपान्तर मानते हैं परंतु अन्य विद्वान इस विचार से सहमत नहीं हैं।

गीतिकाव्य की परिभाषाएँ–गीतिकाव्य के बारे में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं जिनका विवरण इस प्रकार है–

(क) गीतिकाव्य संबंधी पाश्चात्य मत–

- एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, "Lyrical poetry a general term for all poetry which is, or can be supposed to be, susceptible of being sung to the accompaniment of a musical instrument."
- हरबर्ट रीड के अनुसार, "गीत का मूल अर्थ तो लुप्त हो गया है, लेकिन उनका व्यावहारिक पक्ष प्रचार में आ गया है। अब गीत से उस रचना का बोध होता है, जिसमें सूक्ष्म अनुभूतियाँ हों, जो एकान्त आनंद से प्रबुद्ध होती है।"
- अरनेस्ट राइस के अनुसार, "वस्तुतः गीत वही है जिसमें भाषा के द्वारा भाव अथवा भावात्मक विचार का विस्फोट हो, जिसके पद ललित और मधुर हों और जिससे संगीतमयी ध्वनि प्रवाहित होती हो।"
- प्रो. पुमरे के अनुसार, "गीतिकाव्य वह अन्तर्वृत्ति निरूपिणी कविता है जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होती है, जिसका संबंध घटनाओं से नहीं अपितु भावनाओं से होता है तथा जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होती है।"
- हडसन के मतानुसार, "वैयक्तिकता की छाप गीतिकाव्य की सबसे बड़ी कसौटी है किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होती है जिससे प्रत्येक पाठक उसमें अभिव्यक्त भावनाओं और अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके।"
- हीगल के अनुसार, "गीतिकाव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता, जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं ऐश्वर्य का उद्‌घाटन हो। उसमें कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक रूप-विशेष के प्रतिबिम्ब का निदर्शन होता है। उनका एकमात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक शैली में आंतरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, उसकी आशाओं, उसके आह्लाद की तरंगों और उनकी वेदना की चीत्कारों का उद्‌घाटन करना है।"

(ख) गीतिकाव्य संबंधी हिन्दी के विचारकों का मत–

- महादेवी वर्मा के अनुसार, "सुख-दुःख की भावावेगमयी अवस्था-विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-संधान से उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है।"
- डॉ. ब्रजेश्वर शर्मा के अनुसार, "गीतिकाव्य हृदय के उस गंभीर भावावेश का परिणाम है जो सहज, उद्रेक और प्रकृति वेग के साथ निःसृत होता है।"
- डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, "गीति-काव्य की आत्मा है–भाव जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीत में फूट निकलता है।"
- डॉ. गणपति चन्द्रगुप्त के अनुसार, "गीतिकाव्य एक ऐसी लघु आकार एवं मुक्तक शैली में रचित रचना है, जिसमें कवि निजी अनुभूतियों या किसी एक भाव दशा का प्रकाशन गीत या लयपूर्ण कोमल पदावली में करता है।"
- बाबू गुलाबराय का मत है–"प्रगीत काव्य में कवि जो कुछ कहता है, अपने निजी दृष्टिकोण से कहता है। उसमें निजीपन के साथ रागात्मकता होती है। रागात्मकता में तीव्रता बनाए रखने के लिए उसका अपेक्षाकृत छोटा होना आवश्यक है। आकार की इस संक्षिप्तता के साथ भाव की एकता और अन्विति लगी रहती है। गीतिकाव्य में विविधता रहती है, किन्तु वह प्रायः एक ही केन्द्रीय भाव की पुष्टि के लिए होती है।"
- आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार, "प्रगीतों में कवि का व्यक्तित्त्व पूरी तरह प्रतिबिम्बित होता है। वह कवि की सच्ची अभिव्यक्ति होती है। कथानक काव्यों में जीवन के भावनात्मक संघर्ष और चरित्रों की महत्ता रहा करती है, पर कवि के अन्तस्तल का उद्‌घाटन प्रगीत में ही संभव है।"

गीतिकाव्य में कवि अथवा किसी व्यक्ति की निजी सुख-दुःख की भावनाओं का स्वतः स्फुट उच्छलन होता है। यही कारण है कि इसे आत्मपरक विधा कहा गया है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि एक कुशल कवि वैयक्तिक अनुभूतियों को समष्टि की सार्वकालिक और सर्वजनीय अनुभूतियाँ बना देता है। सुख-दुःख के अतिरेकमय क्षणों में व्यक्ति के स्वर स्वाभाविक रूप से

काव्य संगीतमय हो जाते हैं। भाव यह है कि जब शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य होकर स्वर-लय में प्रवहन होने लगता है तभी गीतिकाव्य का जन्म होता है। गीतिकाव्य में ध्वन्यात्मकता और गेयता स्वाभाविक रूप से होती है। लेकिन इसमें इतिवृत्त को कोई स्थान नहीं होता। इसमें किसी घटना का वृत्तांत भी नहीं होता। गीतिकाव्य को स्वानुभूति प्रधान काव्य मानते हुए डॉ. सोमेश्वर मिश्र ने लिखा भी है–"गीतिकाव्य अनुभूति प्रधान काव्य है। इसमें सामान्य वर्णन किसी घटना, तथ्य या भाव का न होकर कवि की अनुभूति के माध्यम से होता है, अतः उसका तीव्र प्रभाव पड़ता है। अतः स्वानुभूति गीतिकाव्य का प्रधान तथ्य है। अनुभूति की तीव्रता में कवि के उद्‌गार सहज प्रवाहित हो उठते हैं। यहाँ भाव का हम बार-बार अनुभव करना चाहते हैं। स्वर की संक्षिप्त और विस्तृत अनुभूति को सजग करती है, कोमलता मधुर लगती है, अतः स्वानुभूति गीति के माध्यम से ही सर्वोत्तम अभिव्यक्ति पाती है।"

गीतिकाव्य का उद्‌भव–

भले ही कुछ विद्वानों ने गीतिकाव्य को पाश्चात्य साहित्य की देन स्वीकार किया हो, लेकिन यह किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि हमारे देश के लोकगीत की परम्परा तो अनादि काल से चली आ रही है। दूसरा ऋग्वेद में भी गीत का उल्लेख तो अवश्य हुआ ही है। डॉ. कृष्णदास हंस ने इस दृष्टि को भ्रमात्मक माना है कि गीतिकाव्य पाश्चिम की देन है। कारण यह है कि यदि हम यह मान लें कि अंग्रेजी के लिरिक से प्रभावित होकर हिन्दी में गीतिकाव्य की रचना हुई तो विद्यापति काल से चली आ रही गीतिकाव्य परम्परा पूर्णतया अर्थविहीन हो जाएगी। विद्यापति के बाद कबीरदास के अनेक रहस्यात्मक गूढ़ भावना से युक्त गीत और सूर का विशाल साहित्य, तुलसीदास की विनयपत्रिका, गीतावली के पद, मीरा के गीत, मीरा के पद, भक्तिकालीन संत कवियों की रचनाएँ, भारतेन्दु द्वारा रचित अनेक गीत आदि भारत की स्वस्थ गीतिकाव्य परम्परा के आधार स्तम्भ हैं, अतः यह मानना कि गीतिकाव्य पाश्चात्य साहित्य की देन है, निश्चय ही अनुचित होगा। फिर भी रचना शैली, तद्‌गुण भावनाएं, कवि कल्पना, बिम्ब विधान आदि की दृष्टि से पश्चिम के लिरिक का हिन्दी की गीतिकाव्य परम्परा पर थोड़ा बहुत प्रभाव देखा जा सकता है। इस संदर्भ में हमें यह नहीं भूलना होगा कि बौद्ध, जैन, सिद्ध, नाथ आदि कवियों के पद भी गीतिकाव्य ही हैं। डॉ. कृष्णलाल हंस ने आदिकालीन इन पदों को भारतीय गीतिकाव्य परम्परा के विकास का प्रथम सोपान माना है। उनका यह भी कहना है कि हमारी सभ्यता में संगीत और गीत एक-दूसरे से कभी भी अलग नहीं हो सके। संभवतः संगीतकार और गीतकार एक ही व्यक्ति होता था। कारण यह है कि उस समय वाद्य यंत्रों की ध्वनियों के साथ गीत गाए जाते थे। ये सभी गीत विभिन्न रागों में रचित थे। सूरदास के काल में तो वृन्दावन बिहारी भगवान कृष्ण के संकीर्तन की एक स्वस्थ परम्परा प्रचलित थी। चैतन्य महाप्रभु का संगीतमय कीर्तन प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र में ऐसे अनेक गीतकार हुए हैं जिन्होंने न केवल गीतों की रचना की, अपितु उनका गायन भी किया। उस समय गीतकार ही संगीतकार कहे जाते थे, परंतु धीरे-धीरे गीतकार ने वाद्य यंत्रों का आश्रय त्याग दिया और उसकी रचना गेय होने के कारण गीत कहलाने लगी। काव्य की रचना में संगीत तत्त्व तो अवश्य विद्यमान था, परंतु वह संगीत की सीमा से बाहर हो गया। आज गीत और संगीत दो पृथक वस्तुएँ बन चुकी हैं। यदि गहराई के साथ देखा जाए तो गीत और गीतिकाव्य एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द नहीं कहे जा सकते क्योंकि गीत को अंग्रेजी में Song कहा गया है और गीतिकाव्य को Lyric कहा गया है, परंतु हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि आरंभ में गीत ही आगे चलकर गीतिकाव्य में परिवर्तित हो गया। अरस्तू ने महाकाव्य, रूपक और गीत तीन प्रकार के काव्य स्वीकार किए थे। उन्होंने गीत के लिए Song शब्द का प्रयोग किया, लिरिक शब्द का नहीं किया। यही Song शब्द आगे चलकर लिरिक शब्द के रूप में प्रयुक्त होने लगा।

आधुनिक काल में हिन्दी साहित्य में छायावादी काव्य ने गीति विधा को लालित्य, माधुर्य तथा कल्पना का पर्यावरण प्रदान किया। महादेवी वर्मा को ही आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ गीतिकार कहा गया है। छायावाद के बाद भी परवर्ती कवियों ने अनेक गीतों की रचना की है। यह परवर्ती हिन्दी साहित्य में काफी समृद्ध हो चुकी है। गीतिकाव्य की निम्नलिखित परिभाषा दी जा सकती है–"गीतिकाव्य अनेक विचारों, अनेक अनुभूतियों और अनेक भावनाओं का एक पद्यात्मक मिश्रण नहीं होता बल्कि वह एक विचार, एक विशुद्ध अनुभूति, एक भावना अथवा जीवन में विशिष्ट क्षणों की एक संगीतात्मक भावाविष्ट अभिव्यक्ति है।"

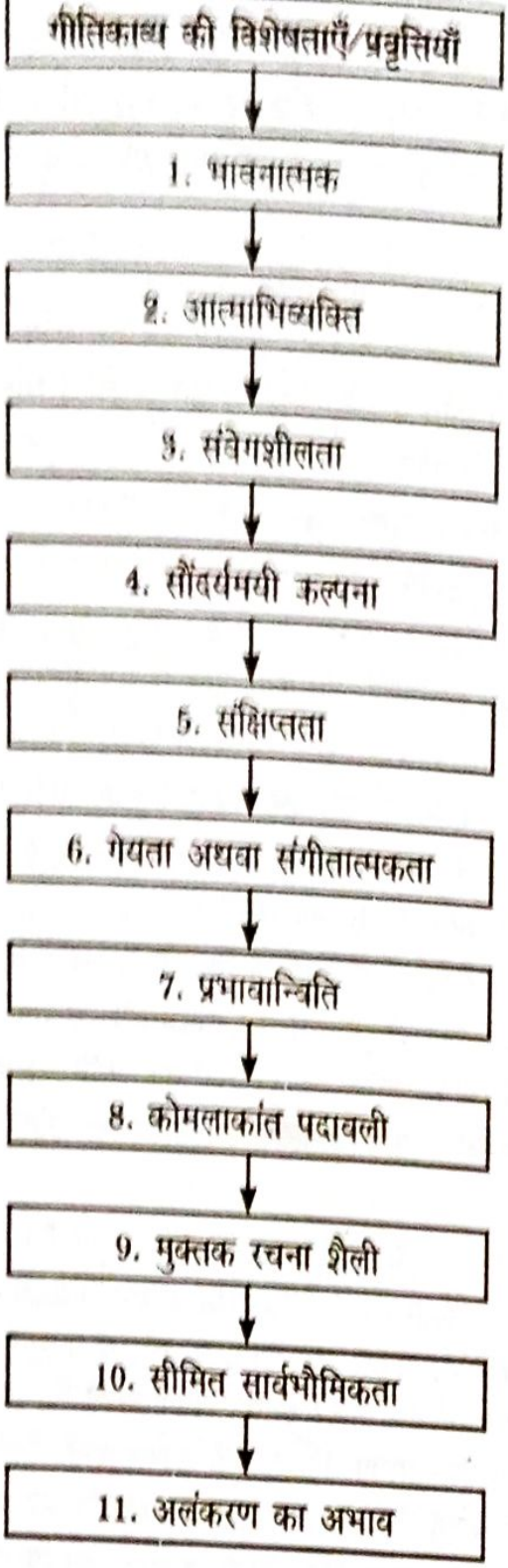

1. भावनात्मकता—भाव गीतिकाव्य का मुख्य तत्त्व कहा जा सकता है। गीतकार अथवा कवि एक संवेदनशील और सहृदय व्यक्ति होता है। उसके हृदय में समय-समय पर जो भावनाएँ जागृत होती हैं, उन्हीं को वह गीत अथवा गीतिकाव्य के द्वारा व्यक्त करता है। गीतिकाव्य हृदय की सुख-दुःखात्मक वृत्तियों का परिणाम है। गीत अथवा कविता वस्तुतः कवि की आंतरिक भावनाओं की सर्गबद्ध शाब्दिक अभिव्यक्ति है। किसी दृश्य अथवा घटना को देखकर कवि-हृदय में जो कोमल भावनाओं का स्वाभाविक स्फुरण होता है, वह शब्दों के माध्यम से गीत का रूप धारण कर लेता है। गीतिकाव्य का जन्म तभी होता है जब कवि के हृदय की अनुभूति घनीभूत होकर अपनी तीव्रता की चरम सीमा तक पहुँच जाती है। उदाहरण के रूप में करुणा का भाव गीति का प्रमुख स्रोत है। यही कारण है कि क्रौंच पक्षी के करुण क्रन्दन को सुनकर आदि कवि वाल्मीकि के मुख से कविता गीति का रूप धारण करके फूट पड़ी थी। कविवर पंत ने भी लिखा है—

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।"

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शैली ने भी इस बात को इस प्रकार कहा है–

"Our sweetest songs are those
That telleth saddest thought."

उपर्युक्त विवेचन से यह निर्णय नहीं लिया जा सकता है कि केवल करुण भाव से ही गीत का जन्म होता है। वस्तुतः भाव प्रवणता ही गीतिकाव्य का प्रमुख तत्त्व है। यही कारण है कि भावावेश की तीव्रतम चरमावस्था में गीत का जन्म होता है। गीत में कोई भी भाव वर्णित हो सकता है। शर्त केवल यह है कि भाव अधिक गहन और उदात्त होना चाहिए तभी गीति उत्कृष्ट कोटि का कहा जाएगा।

2. आत्माभिव्यक्ति–गीत में कवि की व्यक्तिगत भावनाएँ अभिव्यक्त होती हैं। अतः कवि द्वारा रचित गीत पर उसके व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती है। श्रोता अथवा पाठक कवि के गीत को सुनकर जब उस कवि जैसी ही मनःस्थिति को प्राप्त कर लेता है, तभी उसका साधारणीकरण होता है। इस स्थिति में कवि की वैयक्तिक स्थिति सार्वभौम स्थिति बन जाती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गीत में कवि की निजी सुख-दुःखमयी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए गीत का स्वरूप आत्माभिव्यक्तिपरक होता है। कवि स्वान्तः सुखाय गीत की रचना करता हैं, परंतु वह परान्तः सुखाय बन जाती है। गीतकार की सफलता इसी में है कि श्रोता अथवा पाठक उसके द्वारा अभिव्यक्त भावों के साथ तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ हो। इसी में गीतकार की सफलता निहित है। रस्किन ने स्पष्ट लिखा है कि गीतिकाव्य कवि की निजी भावनाओं का प्रकाश होता है। सहज, शुद्ध भाव, स्वच्छन्द कल्पना, तर्कवाद, न्याय मूलकता से युक्त विचार यही गीतिकाव्य की वास्तविक विशेषताएँ हैं। परंतु गीत में संगीतात्मकता का होना भी आवश्यक है।

3. संवेगशीलता–संवेग गीतकार अथवा कवि के लिए महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। जो भाव कवि के हृदय को स्पष्ट नहीं करता, वह अभिव्यक्त होकर भी गीत का रूप धारण नहीं कर सकता। केवल वही भावाभिव्यक्ति गीतिकाव्य कहलाती है जिसमें संवेग हो। संवेगशीलता के परिणामस्वरूप कवि श्रेष्ठ गीत लिखने में सफल होता है। अतः गीत में संवेगों का होना अनिवार्य है। संवेगशीलता के बिना गीत के अस्तित्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

4. सौंदर्यमयी कल्पना–यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि गीतिकाव्य में कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। लेकिन श्रेष्ठ गीत में कवि अपनी खण्ड अनुभूतियों को सौंदर्यमयी कल्पना द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। यही कारण है कि वह रूप विधान, बिम्ब विधान, प्रतीक विधान, उपमान आदि का प्रयोग करता है। परिणामस्वरूप गीत के भाव और भाषा में एक अपूर्ण सौंदर्य का सृजन हो जाता है। अतः गीतिकाव्य की सृष्टि के लिए कवि सौंदर्यमयी कल्पना का प्रयोग करने का प्रयास करता है।

5. संक्षिप्तता–संक्षिप्तता गीतिकाव्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना गया है। गीत हमेशा आकार में छोटा होता है। उसमें विस्तार के लिए कोई स्थान नहीं है। हिन्दी में पृथ्वीराज रासो तथा रामचरितमानस आदि प्रबन्धात्मक गेय काव्य हैं। लेकिन ये ग्रन्थ अपने विस्तार के कारण गीत नहीं कहे जा सकते। उदाहरण के रूप में आधुनिक युग में रामचरितमानस को वाद्य यंत्रों की सहायता से गाया जाता है और श्रोता भी भाव-विभोर होकर इसका श्रवण करते हैं। इसी प्रकार आल्हा खण्ड का गायन ग्रामवासियों के आकर्षण की विशेष-वस्तु बन गया है। प्रबन्धात्मक विस्तार के कारण इन्हें गीतिकाव्य नहीं कहा जा सकता। गीतिकाव्य में संक्षिप्तता अवश्य होनी चाहिए क्योंकि गीतिकाव्य में कवि अपनी खण्ड अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है। वह अनुभूति सघन होने के साथ-साथ मार्मिक और संवेदनशील होती है। यदि कवि अपनी अनुभूति को विस्तार देने का प्रयास करेगा अथवा अनावश्यक कल्पना का प्रयोग करेगा तो ऐसी रचना का प्रभाव स्वतः नष्ट हो जाएगा।

6. गेयता अथवा संगीतात्मकता–गेयता भी गीतिकाव्य का प्रमुख तत्त्व है। जो रचना संगीत के स्वरों या लहर में गाई नहीं जा सकती, उसे गीत की संज्ञा नहीं दी जा सकती। गेयात्मकता के लिए कोमलकान्त पदावली का प्रयोग आवश्यक है। गीति का सहज स्वाभाविक रूप उसकी गेयता अथवा संगीतात्मकता में सुरक्षित रहता है। वह गेयता छांदिक भी हो सकती है और मौखिक भी। संसार के सभी श्रेष्ठ गीत गेय हैं। अतः गीतिकाव्य में गेयता का तत्त्व अवश्य होना चाहिए।

7. प्रभावान्विति–गीतिकाव्य में कवि अपनी किसी मार्मिक अनुभूति को शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। फलस्वरूप उसमें एक सूत्रता उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार का गीत एक समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने लगता है। इसी को प्रभावान्विति कहा गया है। प्रभावान्विति के फलस्वरूप गीतिकाव्य एक स्वतंत्र और पूर्ण रचना बन जाती है परंतु गीत में प्रभावान्विति लाने के लिए भावों का संतुलित होना आवश्यक है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि गीतिकाव्य में एक ही भाव अथवा विचार का चित्रण होना चाहिए। ऐसा करने से उसका आकार संक्षिप्त हो जाएगा और वह पुनरुक्ति दोष, उपदेशात्मकता और वर्णनात्मकतां जैसी प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाएगा। कवि की तीव्र अनुभूति अथवा भाव निश्चय ही पाठक अथवा श्रोता को प्रभावित करेगा।

8. कोमलकान्त पदावली—गीतिकाव्य में कोमलकान्त पदावली का ही प्रयोग होना चाहिए क्योंकि कवि के हृदय की कोमल भावनाएँ कोमलकान्त पदावली में ही अभिव्यक्त होती हैं। यदि कवि कोमल और कलात्मक भाषा-शैली का प्रयोग नहीं करेगा तो कवि की भावनाएँ पाठक अथवा श्रोता में साधारणीकरण उत्पन्न नहीं कर पाएँगी। विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, मीरा आदि कवियों ने कोमलकान्त पदावली का प्रयोग करते हुए ही सुंदर गीतों की रचना की है। इनके गीत आज भी वाद्य यंत्रों की सहायता से गाए और सुने जाते हैं। आगे चलकर छायावादी कवियों ने लाक्षणिक, व्यंजनात्मक, प्रतीकात्मक तथा अलंकृत पदावली का प्रयोग करते हुए गीतिकाव्य की सृष्टि की। विद्यापति के गीत अपनी कोमलकान्त पदावली के लिए प्रसिद्ध हैं।

9. मुक्तक रचना शैली—मुक्तक अपने आप में पूर्ण होते हैं। उनमें कवि अपने हृदय की निश्चित भावना अथवा संवेग की पूर्ण अभिव्यक्ति कर सकता है। मुक्तक की यह विशेषता गीतिकाव्य में भी होती है। प्रायः गीतों की रचना मुक्तक शैली में ही होती है परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी मुक्तक गीत हैं। मुक्तकों में जब स्वतः पूर्णता के अतिरिक्त गीतिकाव्य के अन्य तत्वों का भी समावेश हो जाता है तभी वे गीत का रूप धारण करते हैं। उदाहरण के रूप में कबीर, रहीम, तुलसी, बिहारी आदि के दोहे मुक्तक काव्य तो कहे जा सकते हैं, परंतु गीतिकाव्य नहीं।

10. सीमित सार्वभौमिकता—यह पहले बताया जा चुका है कि गीत कवि की वैयक्तिक अभिव्यक्ति है, अतः वह सार्वभौमिक नहीं हो सकती परन्तु हमें यह भी मानकर चलना होगा कि मानव जन्म से ही कवि है। कवि के हृदय में जो भावना उद्भूत होती है, वह अन्य लोगों में भी उद्भूत हो सकती है। इतना अवश्य है कि अन्य लोगों की भावना कवि की भावना के समान अभिव्यक्त नहीं हो पाती। इसीलिए यह कहना उचित होगा कि गीतिकाव्य में सीमित सार्वभौमिकता होती है, न कि पूर्ण सार्वभौमिकता।

11. अलंकरण का अभाव—गीतिकाव्य कवि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि उसमें अलंकरण का अभाव होता है, परन्तु कभी-कभी गीत अलंकार भी हो सकते हैं। परन्तु गीतों में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप से होना चाहिए। यह अलंकरण कवि की मनःस्थिति से उद्भूत स्वाभाविक भावना के अनुकूल होना चाहिए अन्यथा गीत कृत्रिम-सा लगेगा। भाव यह है कि अलंकार प्रयोग से कवि की अभिव्यक्ति में विकृति नहीं आनी चाहिए।

गीतिकाव्य के प्रकार अथवा भेद—

मूलतः गीत दो प्रकार के माने गए हैं—भावगीत और विचारगीत। भावगीतों में भावों की प्रधानता होती है और विचारगीत में विचारों की। भावगीतों में विचार नहीं होते और विचारगीतों में भाव नहीं होते, लेकिन भाव, भाषा, विषय, देश आदि के आधार पर गीतों के अनेक प्रकार हैं—

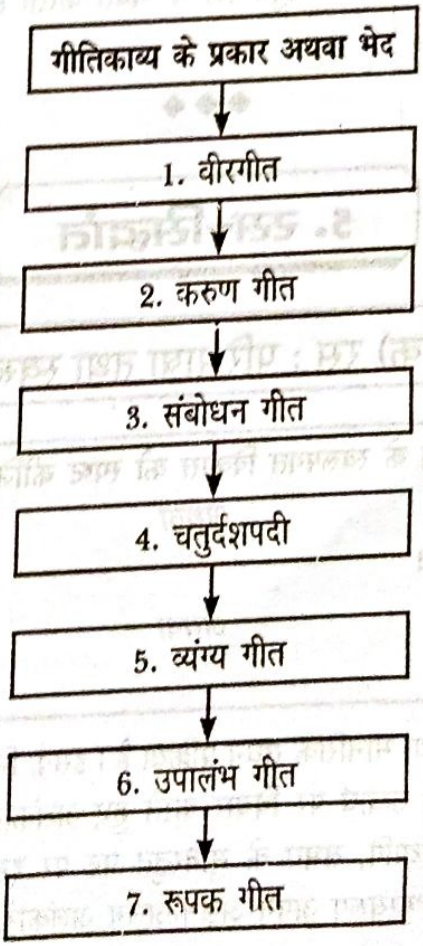

1. वीरगीत (Ballads)—जब किसी वीर व्यक्ति के चरित्र को आधार बनाकर कोई गीत काव्य लिखा जाता है तो उ वीर गीत कहते हैं। इस प्रकार के गीतों में कथानक का पुट भी रहता है परन्तु इन गीतों में संगीतात्मकता भी होती है। इन गीत की भाषा प्रसाद और ओज गुणों से सम्पन्न होती है। प्रधानात्मकता होने के कारण आलोचक इन्हें गीत नहीं मानते। उदाहरण रूप में आल्हा खण्ड प्रसिद्ध गीतिकाव्य है और इसमें कथा तत्त्व का समावेश भी है, इसीलिए इसे गीतिकाव्य की सीमा से बाह रखा गया है। फिर भी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत अनेक गीत लिखे गए हैं जिन्हें हम राष्ट्रीय गीत या वीर गीत कह सकते हैं

2. करुण गीत (Elegy)—ग्रीक में विशेष प्रकार के छन्द विधान को Elegy कहा गया है। हिन्दी में इसे करुण गीत कहा जाता है। इस प्रकार के गीतों में कवि अपने प्रिय के निधन अथवा उसके अनिष्ट की कल्पना को आधार बनाकर गीत की रचना करता है। प्रसाद द्वारा रचित 'आँसू' तथा 'निराला' की 'सरोज स्मृति' हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ करुण गीत हैं।

3. सम्बोधन गीत (Ode)—इस प्रकार के गीत में कवि किसी वस्तु या प्राणी को संबोधित करके अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। हिन्दी में सम्बोधन गीत बहुत कम लिखे गए हैं। कविवर पंत द्वारा रचित 'छाया' तथा 'भावी पत्नी के प्रति' दोनों प्रसिद्ध सम्बोधन गीत हैं। निराला की 'यमुना के प्रति' हिन्दी साहित्य का प्रसिद्ध सम्बोधन गीत हैं।

4. चतुर्दशपदी (Sonnet)—इस प्रकार के गीत में चौदह पंक्तियां होती हैं। ये गीत प्रेम, वियोग, संयोग आदि कोमल भावनाओं को आधार बनाकर लिखे जाते हैं। पाश्चात्य कवियों ने असंख्य चतुर्दशपदी गीतों की रचना की है परन्तु हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के गीतों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। केवल प्रभाकर माचवे ने नारी के प्रति कुछ चतुर्दश-पंक्तियाँ लिखी हैं।

5. व्यंग्य गीत (Satire)—इस प्रकार के गीतों में किसी वस्तु, स्थान, प्राणी या तथ्य आदि को आधार बनाकर व्यंग्य या कटाक्ष किए जाते हैं। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में काफी व्यंग्य गीत लिखे गए हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला तथा कुछ प्रगतिवादी कवियों ने अनेक व्यंग्य गीत लिखे हैं। निराला की 'कुकुरमुत्ता' तथा 'मालपुए' कुछ इसी प्रकार के प्रसिद्ध व्यंग्य गीत हैं।

6. उपालम्भ गीत—जिन गीतों में व्यंग्यपूर्ण उपालम्भ देते हुए कवि अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है, उन्हें उपालम्भ गीत कहते हैं। 'भ्रमर गीत' में सूरदास के अनेक पद उपालम्भ के सफल उदाहरण हैं।

7. रूपक गीत—जिन गीतों में रूपकों या अन्योक्तियों के द्वारा प्रस्तुत को अप्रस्तुत के रूप में व्यंजित किया जाता है, उन्हें रूपक कहते हैं। इन गीतों में कवि प्रस्तुत अर्थ को अप्रस्तुत रूप में व्यक्त करता है। छायावादी कवियों ने इस प्रकार के अनेक गीत लिखे हैं।

◆◆◆

5. रस-सिद्धांत

(क) रस : परिभाषा तथा स्वरूप

1. रस से आपका क्या अभिप्राय है? रस के स्वरूपगत विकास को स्पष्ट कीजिए। **(Most Imp.**

अथवा

रस की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

रस सिद्धांत पर प्रकाश डालिए?

उत्तर-रस का अभिप्राय—रस एक सर्वथा मानसिक सघन प्रक्रिया है। इसके निष्पादक विभिन्न अवयव हैं। यद्यपि कुछ आचार्यों ने इसके मर्म-रस के अतिरिक्त बाध्यांगों के उत्कर्ष पर विचार करते हुए अलंकार, रीति, वक्रोक्ति ध्वनि, औचित्य आदि को भी काव्यत्व के प्राण रूप में प्रतिष्ठित किया तथापि, समय के सुविस्तृत पट पर इस रस तत्व ने ही अधिकांशतः अपना अधिकार रखा तथा जिन देहवादियों ने काव्यत्व के प्राणस्वरूप अपने अलग-अलग अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि मतों को प्रतिष्ठित किया

वे भी प्रकारान्तर से इस आत्म रूप रस का श्रेष्ठत्व मानने से अलग नहीं रहे। ध्वनिवाद ने यद्यपि समाहार-दृष्टि अपनाई परन्तु रस-ध्वनि की श्रेष्ठ कोटि बनाकर ही वे अपने उद्देश्य में सफल हुए। इसी प्रकार औचित्य मत के प्रतिष्ठापक को भी रसौचित्य की परिकल्पना कर अपने मत को साधना पड़ा।

अतः बड़ी गंभीरता से इस रस के तत्त्व-साक्षात्कार के अनन्तर आगे इसके सभी अंगोपांगों का सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है ताकि इसका श्रेष्ठत्व परिलक्षित हो। तदर्थ, विस्तार से इसकी संघटना, निष्पत्ति, स्वरूप एवं विघातक कारणों पर भी विचार कर यथोचित समाधान किया गया है।

काव्य-रस से आत्मानन्द मिलता है। यह करुण में भी विभावन, साधारणीकरण, सत्वोद्रेक एवं अन्तर्वृत्तियों में समन्विति आदि प्रक्रिया से गुजर कर एक प्रकार से समरस आनंद ही देता है–यह दर्शाया जा रहा है। काव्य की आत्मा रस है और कला की आत्मा सौन्दर्य है। सौन्दर्य के लिए अद्‌भुत तत्त्व चमत्कार का विशेष परितोष अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि मतों में मिल सकेगा तथापि यह रस-मत हिन्दी साहित्य की व्यापक काल-परिधि में व्याप्त रहा है। आचार्यों के साथ सुकवियों के भी इस गुण-परिमाण समृद्ध रचनात्मक सहयोग की महत्ता स्वीकार्य रही है।

'रस' भारतीय काव्यशास्त्र के प्राचीनतम शब्दों में से एक है। इसका चिन्तन काव्यास्वाद या सौन्दर्य-चिन्तन का मूलाधार है। यद्यपि इस काव्यानन्द की चिन्तन-परम्परा में आगे चलकर रस के अतिरिक्त अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य आदि अन्य तत्त्व भी आविर्भूत और विकसित हुए परन्तु रस या आनन्द का प्राथमिक चिन्तन आद्याचार्य भरत मुनि के **'नाट्यशास्त्र'** में उल्लिखित मिलता है। सूत्र यह है–

न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्त्तते। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

अर्थात् रस के बिना किसी भी अर्थ का प्रवर्तन नहीं होता। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) भाव के संयोग से रस निष्पन्न होता है। (नगेन्द्र 156, भा.का.शा. की प., दिल्ली, ने.प.हा.प्र.17)

ऐसा नहीं है कि यह शब्द भरत के पूर्व नहीं मिलता। भारतीय वाङ्मय में इससे पहले तैत्तिरीय उपनिषद् के 'रसो वै सः (2/7), श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के 'रसोऽहमप्सु' (7/8) आदि में ब्रह्मानन्द या आस्वाद के अर्थ में प्रयुक्त देख सकते हैं। डॉ. नगेन्द्र ने स्वयं भरत के पूर्व 'रस' को 'अथर्ववेद' और 'काम सूत्र' में बीजभूत माना है। (रस-सिद्धांत, पृ. 11, दिल्ली, ने प.हा. 69) तथापि उनके अनुसार 'नाट्यशास्त्र' में ही इसका प्रथम सांगोपांग निरूपण उल्लेख्य है। इसमें रस के अनेक अर्थ दृष्टिगत होते हैं।

रस के विभिन्न अर्थ

ये प्रायः चार अर्थों में प्रयुक्त होते हैं–(क) पदार्थ का रस, जैसे–खट्टा, मीठा आदि, (ख) औषधिरूपेण रस, (ग) साहित्य का रस तथा ब्रह्मानन्द रस।

आचार्य भरत ने मूलतः नाट्यविधा को ही आधार मानकर रस तत्त्व का निरूपण किया है। चूँकि, उनकी दृष्टि में नाटक ही साहित्य का सम्पन्न रूप है और इसका प्राणतत्व रस है। रस के बिना कोई अन्य अर्थ प्रवृत्त नहीं हो सकता–**"न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्त्तते।"**

अगले श्लोकार्द्ध–**"विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पतिः"** में इसके सहकारी अंगों (विभाव, अनुभाव व संचारी भावों) का उल्लेख किया गया है। आगे कहा गया कि जैसे नाना व्यंजन व औषधि-द्रव्यों के संयोग से रस बनता है वैसे ही नाना भावों के संयुक्त होने पर रस निष्पन्न होता है। वैसे ही नाना भावों का स्थायी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है और जैसे स्वस्थ जन पूर्वोक्त का आस्वादन कर रसोपभोगजन्य आनन्द लेते हैं वैसे ही अनेक भावों व उनके अभिनय से व्यंजित वाणी, अंग और सत्त्व से युक्त स्थायी भावों का आस्वादन रसिक जन करते हैं। **(ना.शा. – 6/27-31)** ये भावास्वादन से प्राप्त नाटक के रस हैं और सहृदय प्रेक्षक इससे आनन्दित होते हैं। यह तो रस का अर्थ हुआ जो व्यंजन से ब्रह्मानन्द तक गया। अब रस को परिभाषित कर सकते हैं।

भारत के प्राचीन ग्रंथों वेद, उपनिषद्, कामसूत्र आदि में रस शब्द का प्रयोग काव्य के सन्दर्भ में हुआ है।

- **ऋग्वेद– "वचः स्वादोः स्वादीयोः रूद्राय वर्धनम्।"**

"रूद्र की प्रसन्नता के लिए स्वादिष्ट से भी स्वादिष्ट वचन कहा गया है।"

- **ऋग्वेद– "मध्व अषु मधुयुवा रूद्रा सिषक्ति पिप्युषी।"**

"मधु-प्रेमी रूद्रगण। यह मधुवर्षिणी तुम्हारे लिए प्रस्तुत है।"

सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना।।

..... तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरम्।"

जो पवमान ऋचाओं के रूप में ऋषियों द्वारा संभृत रस का अध्ययन (पान) करता है, वह पवित्र और स्वादिष्ट अन्न व आनन्द प्राप्त करता है। उसके लिए सरस्वती क्षीर का दोहन करती है।

"रसैः शृंगारकरुण हास्यरौद्र भयानकैः।

बीभत्सविभिश्चसंयुक्तं काव्यमेतद्गायताम्।।"

इन पंक्तियों में रसों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। वात्स्यायन द्वारा रचित कामसूत्र ईसा पूर्व चौथी शताब्दी की रच मानी गई है। इस पर जय मंगला टीका में रस का स्पष्ट उल्लेख किया गया है–

"नायकस्य शृंगारादिषु य इष्टो रसो भावः।

स्थायिसञ्चारि सात्विकेषु, लीलावेष्टितादि तेषामनुवर्तनम्।"

यहाँ रस से अभिप्राय शृंगार आदि रसों से है और भाव से अभिप्राय स्थायी, संचारी आदि भावों से है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही किया जाता रहा है। आचार्य भरत का समय विक्रमी पूर्व द्वितीय शताब्दी के बीच माना गया है। इनके द्वारा रचित नाट्यशास्त्र में रस के स्वरूप, प्रकार आदि पर विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। इससे यह मालूम होता है कि आचार्य भरत से पहले ही रस सम्प्रदाय की स्थापना हो चुकी थी और रस से संबंधित पर्याप्त अध्ययन भी हो चुका था। यदि ऐसी स्थिति न होती तो भरत ने अपने ग्रंथ में बड़े सुलझे हुए रूप में रस की स्पष्ट और प्रभावशाली व्याख्या न की होती। विशेषकर कामसूत्र निश्चित रूप से भरत पूर्व ग्रंथ है। इसमें अनेक स्थलों पर नायक-नायिका भेद, रसावलम्बन, अनुभाव, विभाव, स्थायी भाव, संचारी भाव आदि का उल्लेख है। इस सन्दर्भ में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा भी है–"अथर्ववेद के ऋषि लौकिक जीवन की सिद्धियों को ही प्रमाण मानकर चले हैं। उसमें अनेक प्रकार की भौतिक बाधाओं के निराकरण की कामना और व्यवस्था है, वहाँ इसी परिधि के अन्तर्गत एक या अनेक नारियों का प्रेम प्राप्त करने, उनकी प्रसन्नता के लिए नाना प्रकार के उपकरण जुटाने, सपत्नी और सपत्नियों के विरोध का शमन करने, अभिसार आदि की सुविधायें प्राप्त करने तथा दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाने के उद्देश्य से भी अनेक अभिचार-मंत्रों का समावेश किया गया है। कदाचित् ये मात्र 'कामसूत्र' के उद्गम स्रोत हैं।"

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से रस विवेचन की प्राचीनता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इन प्राचीन ग्रंथों में प्रसंगवश ही रस का उल्लेख हुआ है। केवल कामसूत्र में "रस की परिभाषा, व्याख्या, स्वरूप आदि की ओर संकेत किया गया है।" अन्ततः आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में रस की व्याख्या की।

रस की परिभाषा और स्वरूप

भारतीय काव्यशास्त्र में तीन दृष्टियों से रस पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम वस्तुपरक है जिसके अनुसार रस कवि की सर्जनात्मक भावना की कलापूर्ण अभिव्यक्ति है। रस सहृदय की सुख-दुखःमयी रागात्मक चेतना है। यह द्वितीय दृष्टिकोण है। तीसरा अर्थ आनन्दपरक है जिसके अनुसार रस कवि की भावाभिव्यक्ति के माध्यम से आनन्द प्रदायिनी वस्तु है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि रस सुख-दुखमयी रागात्मक चेतना से युक्त आनन्द प्रदायिनी कलात्मक अभिव्यक्ति है। आचार्य भरत ने रस निष्पत्ति पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है–

'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यहाँ भरत ने संयोग शब्द का प्रयोग मिलन के अर्थ में नहीं किया है बल्कि उपगत के अर्थ में किया है जिसका मतलब यह है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के एक-दूसरे के निकट आने पर रस की निष्पत्ति होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्द भी विचारणीय है। 'निष्पत्ति' का सामान्य अर्थ होता है–उत्पत्ति, लेकिन भरत ने उत्पत्ति के अर्थ में निष्पत्ति शब्द का प्रयोग नहीं किया, बल्कि इसका प्रयोग अभिव्यक्ति के अर्थ में हुआ है। इस आधार पर इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा–"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के परस्पर समीप आने से रसाभिव्यक्ति होती है।"

आचार्य भरत ने रस की व्याख्या करते हुए कहा–"जिस प्रकार विविध व्यंजनों और औषधि द्रव्यों के संयोग से रस निष्पन्न होता है, उसी प्रकार अनेक भावों के एकत्र होने पर रस निष्पन्न होता है। जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से छः रस बनते हैं उसी प्रकार स्थायी भाव विविध भावों से मिलकर रस के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।" भरत ने यह भी प्रश्न उठाया है कि रस क्या है और स्वयं उसका उत्तर भी दिया है। वे कहते हैं–"आस्वाद की अनुभूति ही रस है। जिस प्रकार सहृदय लोग विविध प्रकार के व्यंजनों से बना भोजन करते हुए रसों का स्वाद लेते हैं और प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार दर्शकगण विभिन्न भावों के अभिनय से व्यंजित तथा वाणी, अंग और सत्त्व से मिले हुए स्थायी भावों का स्वाद लेते हैं इसीलिए ये नाट्य रस कहलाते हैं।" भरत ने अपनी बात नाट्य रस के बारे में कही है परन्तु यह काव्य रस के संबंध में भी कही जा सकती है। भरत के अनुसार स्थायी भाव स्थिर है और वह राजा है। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव उस पर आश्रित हैं। यही स्थायी भाव विभावों से मिलकर और पुष्ट होकर रस की संज्ञा प्राप्त करता है।

अन्य आचार्यों का रस संबंधी दृष्टिकोण

भरत के अतिरिक्त संस्कृत के कुछ आचार्यों ने रस के बारे में चिन्तन किया है। सर्वप्रथम अलंकारवादी आचार्य भामह की चर्चा की जा सकती है। उन्होंने रस को अलंकारों में समाहित किया और रसवत्, प्रेयस तथा ओजस्वी अलंकारों की उद्भावना की लेकिन भामह ने रस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा–"**रस के प्रयोग से काव्य सुस्वाद हो जाता है। उसकी शास्त्रीय कटुता नष्ट हो जाती है। परिणामस्वरूप पाठक उसे भेषज (मीठी औषधि) के समान ग्रहण करते हैं।**" दूसरे अलंकारवादी आचार्य दण्डी हैं। इन्होंने गुणों को रस से जोड़ दिया और कहा–"**रसयुक्त मधुर वचन पुण्य रस के समान मादक होते हैं। अतः काव्य में रसभाव की निरन्तरता आवश्यक है।**" **रूद्रट** भी अलंकारवादी आचार्य हैं। उन्होंने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया और शान्त और प्रयाण रसों को भी गिनवाया। उन्होंने रस के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए रसहीन काव्यों को शास्त्र की श्रेणी में रखने का आग्रह किया।

आनन्दवर्धन और **अभिनव गुप्त** दोनों ही ध्वनिवादी आचार्य थे। **आनन्दवर्धन** ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। साथ ही रस को प्रेरक और सार रूप कहा परन्तु **अभिनव गुप्त** ने रस के बारे में सर्वथा मौलिक और गंभीर चिंतन किया। उनका कहना है कि आनन्द आत्मा का धर्म है, विषय-वस्तु का नहीं। रसास्वादन के बारे में विषय अर्थात् रस सामग्री का उपयोग यही है कि वह आत्मा के परामर्श के माध्यम से हमारे सामने आती है। अतः सहृदय आत्मा के आनन्द को ही अनुभव करता है। इस सन्दर्भ में अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण की प्रक्रिया की ओर संकेत किया। साधारणीकरण का अर्थ है–व्यक्तित्व का विलयन अथवा संबंध-विशेष का त्याग या निर्व्यक्तिकरण। साधारणीकरण हो जाने पर संवेदना की विश्रान्ति हो जाती है और रस द्वारा हम उस काव्य को ग्रहण कर लेते हैं। साधारणीकरण की स्थिति में पाठक अथवा श्रोता वही अनुभव करता है जो कवि काव्य रचना के समय करता था। अभिनव गुप्त ने यह भी स्पष्ट किया कि रस नाट्यगत न होकर सामाजिकगत है।

मम्मट संस्कृत काव्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण आचार्य थे। उन्होंने अपनी रचना 'काव्यप्रकाश' में रस के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–"**आलम्बन विभाव से उद्बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट तथा अनुभवों द्वारा व्यक्त हृदय का स्थायी भाव रसदशा को प्राप्त होता है। काव्य पढ़ने, सुनने या अभिनव देखने पर विभावादि के संयोग से निष्पन्न होने वाली आनन्ददायक चित्तवृत्ति ही रस है।**"

आचार्य विश्वनाथ एक रसवादी आचार्य हैं। उन्होंने रस के बारे में विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। वे अपनी रचना 'साहित्य दर्पण' में लिखते हैं–

सत्त्वोद्रकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनऽयमास्वाद्यते रसः।।

विश्वनाथ के शब्दों में–रस

1. अखण्ड
2. स्वप्रकाश
3. आनन्दमय
4. चिन्मय
5. वेद्यान्तर स्पर्शशून्य
6. ब्रह्मस्वादसहोदर
7. लोकोत्तरचमत्कारप्राण और
8. अपने आकार से अभिन्न होता है।

(ख) साधारणीकरण

2. साधारणीकरण की अवधारणा की विवेचना कीजिए। **(Most Imp.)**

अथवा

साधारणीकरण के अर्थ और स्वरूप को स्पष्ट कीजिए तथा बताइए कि रस निष्पत्ति के प्रसंग में साधारणीकरण का क्या महत्त्व है?

अथवा

साधारणीकरण से क्या अभिप्राय है? साधारणीकरण विषयक विभिन्न आचार्यों के मत उद्धृत करते हुए स्पष्ट कीजिए कि आप किसे उचित मानते हैं और क्यों?

उत्तर–साधारणीकरण की अवधारणा–रस निष्पत्ति के सन्दर्भ में 'साधारणीकरण' शब्द का विशेष महत्त्व माना गया है। यह सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र की एक उल्लेखनीय उपलब्धि कही जा सकती है। पाश्चात्य विचारकों में टी.एस. इलियट आदि ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। भरत के प्रसिद्ध सूत्र–**"विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।"** की चार परवर्ती विद्वानों ने व्याख्या की। ये चार विद्वान हैं–भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त। परन्तु भट्टनायक ने ही सर्वप्रथम साधारणीकरण शब्द का प्रयोग करते हुए इसको आधार बनाकर रस निष्पति की व्याख्या की। भट्टनायक के बाद अभिनव गुप्त ने इसे स्वीकार किया। आगे चलकर धनंजय, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने साधारणीकरण पर विशेष प्रकाश डाला। आधुनिक युग में हिन्दी काव्य शास्त्र के बारे में जो अधिकतर व्याख्याएँ की गई हैं उनमें रामचन्द्र शुक्ल और डॉ. नगेन्द्र द्वारा की गई व्याख्याएँ विशेष महत्त्व रखती हैं। भरत के रस सूत्र विभावादि की व्याख्या करते समय भट्ट लोल्लट और श्री शंकुक ने कुछ आक्षेप लगाए। एक आक्षेप यह था कि सहृदय दूसरों के (राम, सीता आदि) कवि निर्मित कल्पित पात्रों के मूल भावों द्वारा रस कैसे प्राप्त कर सकता है। विशेषकर उस स्थिति में जबकि वह उनके प्रति श्रद्धा, भक्ति, प्रीति, घृणा आदि कोई भाव रखता हो।

(क) संस्कृत के विद्वानों का मत–

साधारणीकरण के संबंध में संस्कृत के विद्वानों के मत इस प्रकार हैं–

• **भट्टानायक**–भट्टनायक से इस आक्षेप का उत्तर देते हुए साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। भट्टनायक के मत का उल्लेख अभिनव गुप्त ने अपनी रचना अभिनव भारती में किया जो कि इस प्रकार है–**"काव्य और नाटक में (शब्द के पहले व्यापार) अभिधा व्यापार (मुख्यार्थ-बोध) के पश्चात् (शब्द के दूसरे व्यापार) भावकत्व–व्यापार के द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का साधारणीकरण हो जाता है। परिणामस्वरूप सामाजिक के अपने समस्त, मोह, संकट आदि (से जन्य अज्ञान) का निवारण हो जाता है तथा इसके द्वारा रस भाव्यमान होता है, अर्थात् शब्द के भोग नामक तीसरे व्यापार की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है।"** भट्टनायक का यह वक्तव्य अत्यन्त संक्षिप्त और सुबोध है।

• **अभिनव गुप्त**–अभिनव गुप्त ने ही सर्वप्रथम इसकी व्याख्या की। उनका कथन है कि वाक्यार्थ प्राप्त करने के बाद साधारणीकरण नामक व्यापार द्वारा सहृदय को कुछ इस प्रकार की मानसिक और साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है जिसके कारण काव्य या नाटक में वर्णित पात्रों की तथा उससे सम्बद्ध देशकाल की विषय सीमा नष्ट हो जाती है। कहने का भाव यह है कि

ये हर प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। यही साधारणीकरण का सुफल है। उदाहरण के रूप में जब दुष्यन्त रथ पर सवार होकर मृग का पीछा करता है और उसे अपने बाण से मारना चाहता है तब भय नामक स्थायी भाव देशकाल से मुक्त हो जाता है। उस समय सहृदय को जिस भयानक रस की प्रतीति होती है, वह विचित्र प्रकार की होती है। यह कहना कठिन है कि सहृदय भयभीत है, अथवा मृग भयभीत है, शत्रु या मित्र भयभीत है। इस प्रकार का साधारण व्यापार परिणित न होकर सर्वत्र व्याप्त हो जाता है अर्थात् सबका साझा बन जाता है। साधारणीकरण के कारण प्रत्येक दर्शक इसी स्थिति को पहुँच जाता है। **अभिनव गुप्त** के इस कथन को सरल शब्दों में कह सकते हैं–**"साधारणीकरण द्वारा कवि निमित पात्र व्यक्ति विशेष न रहकर सामान्य बन जाते हैं। वे किसी देश की काल तथा सीमा में बद्ध न रहकर सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक बन जाते हैं। फलस्वरूप सहृदय भी अपने पूर्वाग्रहों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है।"**

यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक होगा कि साधारणीकरण की प्रक्रिया में सहृदय तथा उसकी अवधारणा की विशेष चर्चा की गई है क्योंकि सहृदय ही रसानुभूति प्राप्त करता है। यहाँ तक कि कवि भी काल रचना के बाद रसानुभूति या आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि साहित्य अनुशीलन करने वाला सहृदय ही है। एक विद्वान आलोचक के अनुसार–**"साधारणीकरण वह सामान्यकृत अनुभव है जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक रूप में दिखाई देने लगती है एवं अनुभूत होने लगतीहैं।"**

साधारणीकरण की प्रक्रिया को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। यह रस निष्पत्ति की प्रक्रिया से संबंधित है। इसमें सहृदय सामान्य मानवीय हृदय द्वारा काव्य अथवा नाटक में वर्णित विभावादि को सामान्यीकृत अथवा मानवीय रूप में वहन करता है। काव्य नाटक का मूल पात्र भी कालगत और स्थानगत उपाधियों को त्यागकर सामान्य रूप धारण कर लेता है। यह प्रक्रिया विशेष भावों की वैयक्तिक भावों की अनुभूति को रस रूप में परिणित कर देती है। यह प्रक्रिया पाठक, श्रोता, दर्शक तथा कवि सभी के हृदय में घटित होती है। इस सन्दर्भ में **डॉ. नगेन्द्र** ने लिखा भी है–**"साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के पठन द्वारा पाठक या श्रोता भाव, सामान्य भाव-भूमि पर पहुँच जाना।"**

• **धनंजय**–अभिनव गुप्त के पश्चात् धनंजय ने साधारणीकरण नामक तथ्य पर प्रकांतर से प्रकाश ड़ाला। उन्होंने रस का आश्रय अर्थात् उपभोक्ता सामाजिक को स्वीकार करते हुए भी यह शंका उठाई कि सामाजिक का भाव अर्थात् आलम्बन कौन होता है? यदि वास्तविक राम, सीता आदि को आलम्बन मान लिया जाए तो सामाजिक पूर्व संस्कारों के कारण कवि निमित्त पात्र में अभिनेयता कैसे स्वीकार कर लेगा? इस शंका का समाधान करते हुए उन्होंने कहा है कि काव्य में वर्णित राम आदि धीरोदात्त नायिकाओं की अवस्थाओं के प्रतिपादक होते हैं और यही रति आदि स्थायी भावों को विभावित करते हैं अर्थात् उन्हें रसास्वाद का कारण बनाते हैं। धनंजय का विचार था कि नाटक देखने या काव्य पढ़ने से सामाजिक के सामने ऐतिहासिक राम आदि पात्र न रहकर कवि निमित पात्र बन जाते हैं जिससे दर्शक का राम आदि के प्रति मूल भाव समाप्त हो जाता है और सामाजिक कवि निमित पात्रों के माध्यम से रसानुभूति प्राप्त करता है। यहाँ धनंजय ने कवि के कवित्व को अधिक महत्त्व देते हुए अपने मत का स्पष्टीकरण किया। उनका स्पष्ट कथन था–**"काव्य नाटकगत विभाव आदि तीनों का व्यापार साधारण रूप से वहन कर लेता है अर्थात् समस्त घटना चक्र विशिष्टता से रहित हो जाता है। परिणामस्वरूप राम आदि पात्र और सहृदय दोनों में अभेद स्थापित हो जाता है और वह भावों को ग्रहण करने के कारण उन्हीं के अनुरूप आचरण करने लगता है।"**

• **आचार्य विश्वनाथ** ने भी अपनी रचना 'साहित्य दर्पण' में साधारणीकरण पर विशेष प्रकाश डाला। उन्होंने साधारणीकरण के सन्दर्भ में विभाव, अनुभाव और संचारी तीनों भावों का उल्लेख किया। उनका कथनहै–

व्यापारोऽस्ति विभावादि नाम्ना साधारणी कृतिः।

अर्थात् काव्यगत विभाव आदि तीनों का व्यापार साधारण रूप ग्रहण कर लेता है। सम्पूर्ण घटनाचक्र विशेष व्यक्तित्व से रहित हो जाता है और राम आदि पात्र और सहृदय दोनों में अभेद स्थापित हो जाता है। सहृदय राम आदि पात्रों के अनुसार ही मानसिक रूप से आचरण करने लगता है। यही स्थिति रसास्वाद की भूमिका कहलाती है।

• **पंडितराज जगन्नाथ**–इन्होंने अपनी रचना में साधारणी शब्द का प्रयोग तो नहीं किया, परन्तु दोष-दर्शन के आधार पर साधारणीकरण पर प्रकाश अवश्य डाला है। उनका कथन है कि काव्य और नाटक में कवि और नट द्वारा विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के प्रकाशित होने पर सामाजिक व्यंजना भाव द्वारा यह स्वीकार कर लेता है कि दुष्यंत में शकुन्तला के प्रति रति भाव है। पंडित राज जगन्नाथ का कहना है कि सामाजिक में सहृदयता के कारण एक विशेष भावना उत्पन्न होती है जिसे

दोष कहा है। इस दोष के कारण के फलस्वरूप सामाजिक की आत्मा कल्पित दुष्यंत से आच्छादित हो जाती है। यही कारण है कि उसमें शकुन्तला के प्रति रति आदि भाव उत्पन्न हो जाते हैं और इन्हीं रति आदि का नाम ही रस है। जगन्नाथ का कहना है कि यह दोष ऐसा है जैसे कि सीपी के टुकड़े को देखकर चाँदी के टुकड़े का भ्रम होना। जब तक यह भावना दोष रहता है तभी तक सहृदय को रसानुभूति होती है। इस स्थिति में आश्रय राम आदि के साथ तादात्म्य स्थापित होने से ही साधारणीकरण होता है परन्तु जैसे भावना दोष नष्ट होता है वैसे ही रसानुभूति भी लुप्त हो जाती है।

इस प्रकार देखते हैं कि भट्टनायक से लेकर जगन्नाथ तक के विद्वानों ने साधारणीकरण के बारे में अपने मौलिक विचार व्यक्त किए। किन्तु भट्टनायक द्वारा जो मत प्रस्तुत किया गया उसकी मूल धारणा में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। संस्कृत के आचार्यों का अभिप्राय था—**'असाधारणस्य साधारणकरणम् इति साधारणीकरणम्'** अर्थात् किसी विशेष विभावादि पर आधारित समग्र क्रिया-कलाप का साधारण (सामान्य) रूप ग्रहण कर लेना।

(ख) हिन्दी के विद्वानों का मत—

हिन्दी के कुछ विद्वानों ने भी साधारणीकरण के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं। इन विद्वानों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ. नगेन्द्र के नाम विशेष महत्त्व रखते हैं।

• **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**—शुक्ल जी एक समर्थ आलोचक तथा निबन्धकार थे। वे अपने मौलिक विचारों के लिए जाने जाते हैं। उनका कथन है—**"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती, इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"**

डॉ. **सत्यदेव चौधरी** ने शुक्ल जी के मत का विवेचन करते हुए लिखा है—**"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक, श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोता के भाव का आलम्बन हो जाती है।"** जिन व्यक्ति विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि का पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति विशेष उपस्थित रहता है। साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। (पाठक या श्रोता की कल्पना में) व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से अब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत कम होता है।

अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु विशेष आती है, जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होता है वैसे ही सब श्रोताओं या पाठकों के भाव आलम्बन हो जाते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी आश्रय के आलम्बन को ही साधारणीकरण मानते हैं।

परन्तु शुक्ल जी ने एक मध्यम कोटि की रसानुभूति को भी स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—**"आशा की जिस भाव व्यंजना के साथ पाठक का हृदय तादात्म्य स्थापित न कर सकेगा वहाँ उसे शील वैचित्र्य के रूप में ग्रहण करेगा तथा उसके प्रति श्रद्धा, घृणा, क्रोध, कौतूहल आदि का भाव तब तक अपरितुष्ट रहेगा जब तक कोई दूसरा पात्र प्रमुख आकर घृणा, क्रोध भाव की व्यंजना नहीं करता।"** आचार्य शुक्ल ने यहाँ अपनी मौलिकता का परिचय दिया है जिससे यह स्पष्ट होता है—**"आश्रय के साथ तादात्म्य, आलम्बन का साधारणीकरण और शील-वैचित्र्य की स्थिति में मध्यम कोटि की रसानुभूति।"**

• **आचार्य केशव प्रसाद मिश्र** ने आचार्य शुक्ल के मत का खण्डन किया और साधारणीकरण को कवि या सहृदय की सद्वृत्ति से जोड़ने का प्रयास किया।

• **डॉ. श्यामसुन्दर दास**—इन्होंने मधुमती भूमिका के सन्दर्भ में साधारणीकरण की व्याख्या की। वे कहते हैं—**"कवि के समान सहृदय भी जब मधुमती भूमिका का स्पर्श करता है, तब उसकी वृत्तियाँ उसी प्रकार एक लय में हो जाती हैं। कवि और पाठक की चित्तवृत्तियों का एक तान, एकलय हो जाना ही साधारणीकरण है।"** उनके अनुसार मधुमती भूमिका चित्त की एक ऐसी विशेष अवस्था है जिसमें तर्क-वितर्क की कोई सत्ता नहीं रहती, यह साधनात्मक होती है, उसमें काव्य जैसी न तो रागात्मकता होती है और न ही सरसता होती है। कारण यह है कि काव्यानन्द ब्रह्मस्वाद सहृदय होते हुए भी इस लोक से संबंधित होता है परन्तु मधुमती भूमिका का संबंध पारलौकिक आनन्द से है। यही कारण है कि डॉ. श्यामसुन्दर दास के मत का किसी भी आलोचक ने समर्थन नहीं किया।

• **बाबू गुलाब राय**—इन्होंने आचार्य केशव प्रसाद मिश्र तथा बाबू श्याम सुन्दर दास के मतों का खण्डन किया। उन्होंने मधुमती भूमिका को योग की दूसरी श्रेणी माना, अन्तिम नहीं। साथ ही उन्होंने साधारणीकरण के तीन तत्वों का भी उल्लेख किया—कवि, पाठक और भाव। गुलाबराय जी का कथन है कि इन तीनों का ही साधारणीकरण होता है। कवि अपने व्यक्तित्व को त्यागकर लोक प्रतिनिधि बन जाता है और भावाभिव्यक्ति करता है। यही उसका साधारणीकरण है। पाठक या श्रोता भी अपने व्यक्तित्व के बन्धनों को त्यागकर सामान्य स्थिति में पहुँच जाता है यही उसका साधारणीकरण है। तात्पर्य यह है कि जब कवि तथा श्रोता के भावों में अपने-पराए की भावना नहीं रहती तब भावों का साधारणीकरण होता है।

• **आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी**—इन्होंने बाबू गुलाब राय के मत का समर्थन करते हुए लिखा कि दर्शक या पाठक का कवि की भावना तक पहुँचना ही साधारणीकरण है। उनका कथन है—**"साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य है। साधारणीकरण वास्तव में कवि कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र विशेष का नहीं।"**

• **डॉ. नगेन्द्र**—एक अन्तिम मान्यता प्राप्त विद्वान हैं। उन्होंने **"रस सिद्धान्त"** नामक पुस्तक की रचना भी की है। डॉ. नगेन्द्र ने शुक्ल जी द्वारा जो रस की मध्यम कोटि का उल्लेख किया गया है उसी के सन्दर्भ में वे लिखते हैं—**"साधारणीकरण न तो आश्रय राम का होता है, न आलम्बन सीता का होता है अपितु यह कवि की अनुभूति का होता है और इसके परिणामस्वरूप आश्रय रूपी रावण द्वारा राम की भर्त्सना के समय हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती।"** उन्होंने एक उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा वर्णित रावण के प्रति हमारे हृदय में तुच्छ भाव या घृणा भाव उत्पन्न होगा और राम के प्रति भक्ति भाव जागृत होगा परन्तु माइकेल मधुसूदन रावण के प्रति हमारे हृदय में सहानुभूति उत्पन्न होगी और राम के प्रति तुच्छ भाव उत्पन्न होगा परन्तु हमें दोनों अवस्थाओं में रस की प्राप्ति होगी। इसका कारण यह है कि हमारा तादात्म्य लेखक से होता है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि हमारी अनुभूति लेखक की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित करती है।

आचार्य शुक्ल और डॉ. नगेन्द्र के मतों में कुछ अन्तर है। आचार्य शुक्ल ने आलम्बन अर्थात् सीता का साधारणीकरण माना था परन्तु वे कवि की अनुभूति को संवेद्य रूप मानते हैं। वे लिखते हैं—**"जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है—कवि की अनुभूति का साधारणीकरण।"** वे स्वयं लिखते भी हैं—**"कवि वही होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सकता है। अपनी अनुभूति को व्यक्त कर लेना अलग बात है, इसका साधारणीकरण कर लेना अलग बात। सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त तो कर लेते हैं, परन्तु इसका साधारणीकरण करने की शक्ति कवि में होती है।"** डॉ. नगेन्द्र और आचार्य शुक्ल की मान्यताओं में जो विषमता देखी जाती है, उसके बारे में निम्नलिखित बिन्दु उल्लेखनीय हैं—

1. साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है।
2. अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सकने में जो व्यक्ति समर्थ है, वही कवि है।
3. आचार्य शुक्ल ने आलम्बन को साधारणीकरण माना है परन्तु डॉ. नगेन्द्र ने कवि की अनुभूति को साधारणीकरण माना है।
4. आचार्य शुक्ल ने सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य स्वीकार किया था परन्तु डॉ. नगेन्द्र का कथन है कि सहृदय का कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित हो जाता है।
5. आचार्य शुक्ल ने एक विशेष स्थिति में रस की मध्यम कोटि में कल्पना की है परन्तु डॉ. नगेन्द्र इससे सहमत नहीं हैं।

इस प्रकार भट्टनायक से लेकर डॉ. नगेन्द्र तक साधारणीकरण के स्वरूप का प्रतिपादन करते रहे हैं। **डॉ. सत्यदेव चौधरी** ने साधारणीकरण का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—**"असाधारण का साधारण रूप ग्रहण कर लेना साधारणीकरण कहलाता है।"** निष्कर्षतः वे लिखते हैं—

1. असाधारण का साधारण रूप में गृहीत होना साधारणीकरण कहलाता है।
2. यह विभाव आदि के सम्मिश्रित क्रियाकलाप का होता है।
3. इसके द्वारा सहृदय पूर्वाग्रहों से मुक्त हो जाता है।
4. साधारणीकरण रसास्वाद में भूमिका का कार्य करता है।
5. रसात्मकता की मध्यम कोटि स्वीकार नहीं की जा सकती।

साधारणीकरण का महत्त्व—रसात्मकता काव्य से ही उत्पन्न होती है, परन्तु इसके लिए साधारणीकरण की प्रक्रिया आवश्यक है। काव्य सृष्टि के लिए भी साधारणीकरण की प्रक्रिया नितान्त आवश्यक है। साधारणीकरण द्वारा कवि न केवल सहृदयों के भावों का उद्‌बुद्ध करता है, बल्कि उन्हें आनन्दानुभूति भी प्रदान करता है। फलस्वरूप कवि की अनुभूति विश्वानुभूति बन जाती है। इसी के फलस्वरूप रस चिन्मय लोकोत्तर कहलाता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही सहृदय अपनी पृथक् सत्ता और वैयक्तिक स्वार्थों की संकोच भाव-भूमि से ऊपर उठकर लोक सामान्य भाव-भूमि में विचरण करने लगता है। इसे हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—जब सहृदय अपनी पृथक् सत्ता को भूलकर अपनी लाभ-हानि की भावना को त्यागकर सम्पूर्ण मानव जाति की सुख-दुख की अनुभूति में लीन हो जाता है तभी उसमें साधारणीकरण की स्थिति उत्पन्न होती है। साधारणीकरण होने पर सहृदय के व्यक्तित्त्व का विलय हो जाता है और वह असाधारण न रहकर साधारण बन जाता है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि लोक हृदय में लीन होना ही साधारणीकरण है। साधारणीकरण का महत्त्व इसलिए भी माना गया है क्योंकि उसके द्वारा ही सहृदय रसानुभूति को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार सहृदय, साधारणीकरण और रसानुभूति तीनों परस्पर संबंधित स्थितियाँ हैं।

◆◆◆

(ग) सहृदय की अवधारणा

3. सहृदय की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। **(Imp.)**

अथवा

"रसानुभूति की भावना सहृदय ही करता है"—इस कथन के सन्दर्भ में सहृदय की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—सहृदय की अवधारणा—प्रायः सभी भारतीय काव्यशास्त्री काव्य संबंधी विचारों के बारे में अलग-अलग विचार व्यक्त करते रहे। सबकी अपनी मौलिक काव्य विषयक अवधारणाएँ थीं परन्तु सभी इस प्रश्न पर सहमत थे कि काव्य की आत्मा क्या है अथवा वह कौन-सा तत्त्व है जिसके कारण काव्य को पाठक या श्रोता साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा अनुभव करके आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। किसी विद्वान ने तो रस को काव्य की आत्मा माना है। किसी ने अलंकार को, किसी ने रीति को, किसी ने ध्वनि को और किसी ने औचित्य को। आगे चलकर सभी मत अपना महत्त्व खो बैठे और केवल रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया। रस सिद्धान्त के अन्तर्गत ही रस निष्पत्ति और साधारणीकरण की व्यापक स्तर पर चर्चा हुई। इसी सन्दर्भ में सहृदय की अवधारणा का भी प्रश्न सामने आया। इसका प्रमुख कारण यह है कि सहृदय ही काव्यानुशीलन के पश्चात् रसानुभूति अथवा आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। सहृदय के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया। यथा—रसिक, श्रोता, पाठक, परमात्मा आदि। कवि भी काव्य रचना करने के बाद सहृदय का रूप धारण करके ही काव्यानन्द प्राप्त करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सहृदय ही साहित्यिक अनुशीलन करने वाला व्यक्ति है और वही रसानुभूति को प्राप्त करता है।

• **सहृदय का अर्थ एवं स्वरूप**—सहृदय का शाब्दिक अर्थ है—समान हृदय वाला। कवि, कलाकार अथवा चित्रकार अपने हृदयगत विशिष्ट भावों के द्वारा रचना का निर्माण करता है। साहित्यकार एक ऐसा कलाकार है कि उसके पास अनुभूति सम्पन्न हृदय होता है। जो भाव उसके मन और मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं वह उन्हें अपनी साहित्यिक रचना द्वारा अभिव्यक्त करता है। कारण यह है कि उसका हृदय संवेदनशील होता है। जिस प्रकार की संवेदनशीलता कवि के हृदय में विद्यमान होगी, वैसी संवेदनशीलता ही उसकी रचना में देखी जा सकेगी। यदि कवि स्वयं को समाधिनिष्ट करके काव्य रचना करता है तो वह सहृदय को भी समाधिनिष्ट करके उसे आत्मविभोर बना सकता है। काव्यशास्त्र विवेचन में विशेषकर रसानुभूति तथा साधारणीकरण के सन्दर्भ में आचार्यों ने पाठक, श्रोता, प्रमाता, दर्शक, रसिक आदि शब्दों का अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार प्रयोग किया है परन्तु इनमें सहृदय शब्द सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है। सहृदय का अर्थ है—"एक संवेदनशील पाठक अथवा श्रोता जो काव्य रचना को पढ़कर या सुनकर आनन्दानुभूति प्राप्त कर सकता है।"

• **अवधारणा का अर्थ**—यहाँ सहृदय की अवधारणा की चर्चा की जा रही है अतः अवधारणा शब्द को समझना नितान्त आवश्यक है। नालन्दा विश्वकोश के अनुसार अवधारणा शब्द का अर्थ है—निरूपण अथवा विचारपूर्ण अवधारणा या निश्चय। इस सन्दर्भ में सहृदय की अवधारणा का अर्थ यह हो सकता है कि एक ऐसे रसिक अथवा प्रमाता का निरूपण करना जो संवेदनशील

काव्यानुशीलन करने के बाद कवि द्वारा अभिव्यक्त भावों को ग्रहण कर सके और आनन्दानुभूति भी प्राप्त कर सके। सहृदय अथवा रसिक वही व्यक्ति कहा जा सकता है जो साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा रसानुभूति प्राप्त करने में समर्थ होता है। भारतीय आचार्यों का विचार है कि जब तक कवि अथवा साहित्यकार अपने चित्त में रसानुभूति नहीं करता, तब तक वह सहृदय को भी रसानुभूति नहीं करा सकता। इसका मतलब यह हुआ कि कवि को भी सहृदय होना चाहिए। जब तक किसी पाठक अथवा श्रोता में सहृदयता होने की योग्यता नहीं होगी तब तक वह रसानुभूति प्राप्त नहीं कर सकेगा। अतः संक्षेप में कह सकते हैं कि सहृदय वही व्यक्ति है जिसमें काव्यानुशीलन करके रसानुभूति प्राप्त करने की योग्यता है। अन्यत्र कहा भी गया है–**'कवि करोति काव्यानि रसं जानाति पण्डितः'**।

• **सहृदय की योग्यता**–सामान्य पाठक या श्रोता सहृदय नहीं हो सकता। सहृदय वही व्यक्ति हो सकता है जो काव्य के मर्म को अच्छी प्रकार जानता हो, जिसमें काव्य को समझने की योग्यता हो अर्थात् जो व्यक्ति साहित्य या काव्य को समझ सकता है, उसमें समुचित रुचि लेता है और उसे पढ़कर रसानुभूति प्राप्त करता है वही व्यक्ति रसानुभूति प्राप्त कर सकता है। आचार्य **विश्वनाथ** ने अपनी रचना 'साहित्य दर्पण' में रस के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा भी है–

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः,
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः ब्रह्मस्वादसहोदरः।
लोकोत्तर-चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रभातृभिः,
स्वादकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यत रसः।।

आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में रस अखण्ड है, स्वप्रकाश है, आनन्दमय है, चिन्मय और वेद्यान्त स्पर्श शून्य है, ब्रह्मस्वाद सहोदर है, लोकोत्तर चमत्कार प्राण तथा अपने आकार से अभिन्न होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि प्रमाता अथवा सहृदय द्वारा रस का तभी आस्वादन किया जाता है जब उसके सत्वमन का उद्रेक होता है। सत्व उस मन को कहते हैं जो रजोगुण और तमोगुण से अस्पृष्ट हो।

रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते।

मन शब्द में लक्षणा शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ अर्थ होगा–मन का धर्म अथवा मन का गुण। सत्व के उद्रेक से मतलब है रजोगुण और तमोगुण नामक विचार उत्पन्न करने वाले गुणों से एक अन्य भिन्न गुण जो कि विकार का सूचक नहीं होता बल्कि उदात्त भावना का सूचक होता है। संक्षेप में कह सकते हैं–**"मन की उस स्थिति को सत्वोद्रेक कहते हैं जिसमें सत्व गुण शेष दो गुणों रजोगुण और तमोगुण से अस्पृष्ट हो।"** सामान्य शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि सत्व गुण पर रजोगुण और तमोगुण की मोटी परत चढ़ी रहती है। काव्यानुशीलन करते समय रजोगुण और तमोगुण दोनों तिरोभूत हो जाते हैं और सत्वगुण आविर्भूत हो जाता है। यही कारण है कि रसास्वादन के समय सहृदय सांसारिक राग-द्वेष से विमुक्त हो जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने उपर्युक्त श्लोक में "कैश्चित् प्रभातृभिः" शब्दों का भी प्रयोग किया है। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य विश्वनाथ ने सहृदय की योग्यता पर विशेष बल दिया है अर्थात् योग्य सहृदय ही काव्य अनुशीलन के समय रसानुभूति प्राप्त कर सकते हैं। सभी श्रोताओं अथवा दर्शकों को काव्यानन्द की प्राप्ति नहीं होती। इसका प्रमुख कारण यह है कि रस अलौकिक होने के साथ-साथ अनिर्वचनीय भी होता है। फलस्वरूप वह सामान्य पाठक या श्रोता की समझ में नहीं आ सकता। इसलिए आचार्य विश्वनाथ को यह कहना पड़ा कि केवल कुछ प्रमाता अथवा सहृदय ही रसानुभूति प्राप्त कर सकते हैं। सच्चाई तो यह है कि सहृदय की योग्यता रसानुभूति के लिए आवश्यक है। अन्यत्र कहा भी गया है कि जिन लोगों में करुणा तथा संवेदनशीलता होती है, वही काव्य का रसास्वादन प्राप्त कर सकते हैं।

• **रस और सहृदय का संबंध**–रस और सहृदय का गहरा संबंध है परन्तु 'रस' को समझना भी आवश्यक है। वैदिक ऋषियों से लेकर आचार्य विश्वनाथ और आधुनिक काल में डॉ. शुक्ल, नगेन्द्र आदि आचार्यों ने काफी चिन्तन किया है। निष्कर्षतः यह भी कहा गया है कि रस ही काव्य की आत्मा है। वेदों में रस का प्रयोग महर्षियों की वाणी के सन्दर्भ में हुआ। इस बात का बार-बार उल्लेख मिलता है कि महर्षियों ने रस को अनुभूत किया अथवा उसे प्राप्त किया। आगे चलकर काव्य रस की चर्चा होने लगी। विभिन्न विश्वकोशों में रस का अर्थ है–गंध, स्वाद, राग, द्रव्य, वीर्य धातु, जल आदि परन्तु आगे चलकर रस का अर्थ लिया

हो और काव्यानुशीलन करने के बाद कवि द्वारा अभिव्यक्त भावों को ग्रहण कर सके और आनन्दानुभूति भी प्राप्त कर सके। सहृदय अथवा रसिक वही व्यक्ति कहा जा सकता है जो साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा रसानुभूति प्राप्त करने में समर्थ होता है। भारतीय आचार्यों का विचार है कि जब तक कवि अथवा साहित्यकार अपने चित्त में रसानुभूति नहीं करता, तब तक वह सहृदय को भी रसानुभूति नहीं करा सकता। इसका मतलब यह हुआ कि कवि को भी सहृदय होना चाहिए। जब तक किसी पाठक अथवा श्रोता में सहृदयता होने की योग्यता नहीं होगी तब तक वह रसानुभूति प्राप्त नहीं कर सकेगा। अतः संक्षेप में कह सकते हैं कि सहृदय वही व्यक्ति है जिसमें काव्यानुशीलन करके रसानुभूति प्राप्त करने की योग्यता है। अन्यत्र कहा भी गया है—**'कवि करोति काव्यानि रसं जानाति पण्डितः'**।

• **सहृदय की योग्यता**—सामान्य पाठक या श्रोता सहृदय नहीं हो सकता। सहृदय वही व्यक्ति हो सकता है जो काव्य के मर्म को अच्छी प्रकार जानता हो, जिसमें काव्य को समझने की योग्यता हो अर्थात् जो व्यक्ति साहित्य या काव्य को समझ सकता है, उसमें समुचित रुचि लेता है और उसे पढ़कर रसानुभूति प्राप्त करता है वही व्यक्ति रसानुभूति प्राप्त कर सकता है। **आचार्य विश्वनाथ** ने अपनी रचना 'साहित्य दर्पण' में रस के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा भी है—

सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः,
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः ब्रह्मस्वादसहोदरः।
लोकोत्तर-चमत्कार प्राणः कैश्चित्प्रभातृभिः,
स्वादकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यत रसः।।

आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में रस अखण्ड है, स्वप्रकाश है, आनन्दमय है, चिन्मय और वेद्यान्त स्पर्श शून्य है, ब्रह्मस्वाद सहोदर है, लोकोत्तर चमत्कार प्राण तथा अपने आकार से अभिन्न होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि प्रमाता अथवा सहृदय द्वारा रस का तभी आस्वादन किया जाता है जब उसके सत्वमन का उद्रेक होता है। सत्व उस मन को कहते हैं जो रजोगुण और तमोगुण से अस्पृष्ट हो।

रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते।

मन शब्द में लक्षणा शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ अर्थ होगा—मन का धर्म अथवा मन का गुण। सत्व के उद्रेक से मतलब है रजोगुण और तमोगुण नामक विचार उत्पन्न करने वाले गुणों से एक अन्य भिन्न गुण जो कि विकार का सूचक नहीं होता बल्कि उदात्त भावना का सूचक होता है। संक्षेप में कह सकते हैं—**"मन की उस स्थिति को सत्वोद्रेक कहते हैं जिसमें सत्व गुण शेष दो गुणों रजोगुण और तमोगुण से अस्पृष्ट हो।"** सामान्य शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि सत्व गुण पर रजोगुण और तमोगुण की मोटी परत चढ़ी रहती है। काव्यानुशीलन करते समय रजोगुण और तमोगुण दोनों तिरोभूत हो जाते हैं और सत्वगुण आविर्भूत हो जाता है। यही कारण है कि रसास्वादन के समय सहृदय सांसारिक राग-द्वेष से विमुक्त हो जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने उपर्युक्त श्लोक में "कैश्चित् प्रभातृभिः" शब्दों का भी प्रयोग किया है। इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य विश्वनाथ ने सहृदय की योग्यता पर विशेष बल दिया है अर्थात् योग्य सहृदय ही काव्य अनुशीलन के समय रसानुभूति प्राप्त कर सकते हैं। सभी श्रोताओं अथवा दर्शकों को काव्यानन्द की प्राप्ति नहीं होती। इसका प्रमुख कारण यह है कि रस अलौकिक होने के साथ-साथ अनिर्वचनीय भी होता है। फलस्वरूप वह सामान्य पाठक या श्रोता की समझ में नहीं आ सकता। इसलिए आचार्य विश्वनाथ को यह कहना पड़ा कि केवल कुछ प्रमाता अथवा सहृदय ही रसानुभूति प्राप्त कर सकते हैं। सच्चाई तो यह है कि सहृदय की योग्यता रसानुभूति के लिए आवश्यक है। अन्यत्र कहा भी गया है कि जिन लोगों में करुणा तथा संवेदनशीलता होती है, वही काव्य का रसास्वादन प्राप्त कर सकते हैं।

• **रस और सहृदय का संबंध**—रस और सहृदय का गहरा संबंध है परन्तु 'रस' को समझना भी आवश्यक है। वैदिक ऋषियों से लेकर आचार्य विश्वनाथ और आधुनिक काल में डॉ. शुक्ल, नगेन्द्र आदि आचार्यों ने काफी चिन्तन किया है। निष्कर्षतः यह भी कहा गया है कि रस ही काव्य की आत्मा है। वेदों में रस का प्रयोग महर्षियों की वाणी के सन्दर्भ में हुआ। इस बात का बार-बार उल्लेख मिलता है कि महर्षियों ने रस को अनुभूत किया अथवा उसे प्राप्त किया। आगे चलकर काव्य रस की चर्चा होने लगी। विभिन्न विश्वकोशों में रस का अर्थ है—गंध, स्वाद, राग, द्रव्य, वीर्य धातु, जल आदि परन्तु आगे चलकर रस का अर्थ लिय

गया—गंध, स्वाद या आनन्द। काव्यशास्त्र में रस का अर्थ लिया गया—शृंगार आदि रस। यहाँ रस आनन्द का ही पर्यायवाची है। रस के स्वरूप की चर्चा करते हुए आचार्य भरतमुनि ने लिखा भी है—

यथा बहुद्रव्यगुतैर्जनैः बहुविधैर्युतम्
आस्वादयन्ति भुञ्जानाः मुक्ते भक्तविदोजनाः।
भावाभिनय संयुक्ताः स्थायिभावास्ततो बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः।।

"जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों और द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों से सम्बद्ध अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्न-चित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक प्रेक्षक (सहृदय) विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हुए हर्षादि को प्राप्त करते हैं।" उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काव्यानन्द अथवा रस सहृदय से ही संबंधित है और सहृदयों को आनन्दानुभूति प्रदान करने के लिए ही काव्य रचना होती है। स्वयं कवि भी एक सहृदय व्यक्ति है क्योंकि वह अपनी रचना का अनुशीलन करके ही रसानुभूति प्राप्त करता है और सहृदय भी काव्य का अनुशीलन प्राप्त करके रसानुभूति करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सहृदय का रस से गहरा संबंध है। यदि कोई काव्य रचना रसानुभूति प्रदान करने में समर्थ नहीं होती तो सहृदय उस रचना को नहीं पढ़ता और न ही उसे ध्यान से सुनता है। वही काव्य रचना श्रेष्ठ कही जाती है जो रसानुभूति प्रदान करने के योग्य होती है।

• **सहृदय और साधारणीकरण**—साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है—व्यक्तित्त्व का विलयन, निर्वैयक्तिकरण, संबंध विशेष का त्याग अथवा असाधारण का साधारणीकरण। साधारणीकरण एक ऐसा सामान्यकृत अनुभव है जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक हो जाती हैं। साधारणीकरण का मूल संबंध रस निष्पत्ति की वैज्ञानिक प्रक्रिया से है। इस प्रक्रिया में सहृदय अपने सामान्य मानवीय हृदय द्वारा काव्य में वर्णित विभाव आदि को मानवीय रूप में ग्रहण करता है। काव्य अनुशीलन करते समय सहृदय को यह अनुभव होता है कि काव्य या नाटक का मूल पात्र कालगत और स्थानगत दोनों प्रकार की उपाधियों को त्यागकर सामान्य रूप धारण किए हुए है।

साधारणीकरण के बारे में भरत के नाट्य शास्त्र में भी हल्का-सा संकेत मिल जाता है परन्तु बाद में भट्टनायक, अभिनव गुप्त तथा धनंजय ने साधारणीकरण की विस्तृत व्याख्या की। **अभिनव गुप्त** ने लिखा है—**"काव्य नाटक द्वारा प्रस्तुत वस्तु के संबंध में सामाजिक की व्यक्तिगत आसक्ति मित्र, शत्रु तथा उदासीन भाव से असम्बद्ध अथवा मुक्त प्रतीत होती है। वस्तु की व्यक्ति से यह सम्बद्धता ही उस वस्तु का साधारणीकरण है।"** अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि विभावादि के साधारणीकरण द्वारा सहृदय व्यक्ति-विशेष न रहकर एक सामान्य प्रमाता बनकर उस दशा में वासना रूप में विद्यमान स्थायी भाव का साधारणीकरण करता है और आनन्दानुभूति प्राप्त करता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारणीकरण का विषय सहृदय ही है अथवा यूँ भी कह सकते हैं कि सहृदय और साधारणीकरण का गहरा संबंध है। काव्य की रचना सहृदय के लिए ही की जाती है। जब सुयोग्य और प्रतिभा सम्पन्न सहृदय काव्य का अनुशीलन करता है और तत्काल रसानुभूति प्राप्त कर लेता है तो कवि और काव्य रचना दोनों धन्य हो जाते हैं। कवि और कविता का एक ही लक्ष्य है—सहृदयों को भावानन्द प्रदान करना। यदि कोई रचना सहृदयों को भावानन्द प्रदान करने में सफल नहीं हो पाती तो उस काव्य रचना की सफलता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। एक विद्वान आलोचक के शब्दों में—"जब एक योग्य प्रमाता अथवा सहृदय काव्यानुशीलन करके रसानुभूति प्राप्त कर लेता है तो वह असीम आनन्द के सागर में गोते खाने लगता है। उसे अपने-पराए का ध्यान नहीं रहता। अतः रसानुभूति प्राप्त करने में सहृदय की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के महान निबन्धकार और आलोचक कहे गए हैं। साधारणीकरण पर विवेचन करते समय उन्होंने सहृदयता पर भी प्रकाश डाला है। चिन्तामणि भाग-1 में वे लिखते हैं—**"साधारणीकरण से अभिप्राय है कि पाठक या श्रोता के मन में जो वस्तु या व्यक्ति विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सभी पाठकों या सहृदयों को भाव का व्यंजन हो जाती है। साधारणीकरण के बारे में वे कहते हैं कि सहृदय का आश्रयत्व धर्म के साथ तादात्म्य होता है। परिणामस्वरूप आलम्बनत्व धर्म रूप का साधारणीकरण होता है और उन दोनों का नाम ही साधारणीकरण है।"**

आचार्य शुक्ल ने काव्यानन्द प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिए पाठक, श्रोता, सहृदय आदि शब्दों का प्रयोग किय सहृदय, पाठक या श्रोता से उनका अभिप्राय यही है कि वह व्यक्ति जो काव्यानुशीलन करता है और जिसका साधारणीकरण है वह संवेदनशील होता है। इसका मतलब है एक सुयोग्य और प्रतिभासम्पन्न सहृदय। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है साधारणीकरण की प्रक्रिया में सहृदय की प्रमुख भूमिका रहती है क्योंकि वही काव्यानुशीलन करके रसानुभूति प्राप्त करता है। ध्यान रखना चाहिए कि सभी पाठक अथवा श्रोता सहृदय नहीं हो सकते, हाँ सहृदय पाठक अथवा श्रोता हो जाता है। यह क किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं होगा कि रसानुभूति की भावना सहृदय ही करता है।

◆◆◆

4. उदाहरण सहित सभी रसों का विवेचन कीजिए।

उत्तर–रसों का विवेचन एवं उनके उदाहरण

1. शृंगार रस

स्त्री-पुरुष के परस्पर अनुराग का वर्णन शृंगार रस के अन्तर्गत होता है। इसके दो भेद हैं–1. संयोग या सम्भोग; 2. वियो अथवा विप्रलम्भ। ये दोनों यद्यपि परस्पर विरोधी भावों की अनुभूति कराते हैं तथापि ये पुष्टि रति की ही करते हैं।

स्थायीभाव–रति।

आलम्बन–नायक या नायिका।

उद्दीपन–मुख सौन्दर्य, बसन्त, पावस, चाँदनी रात, मलयसमीर, एकान्त स्थान, सरिता तट, रमणीक उपवन, आलम्बन क प्रेमपूर्ण चेष्टाएँ आदि।

आश्रय–प्रेमासक्त व्यक्ति (नायक या नायिका)।

अनुभाव–आश्रय का प्रेमपूर्ण देखना, स्वेद, अश्रु, रोमांच, कम्प, स्तम्भ, भ्रकुटि-भंग, कटाक्ष, मुस्कान आदि।

संचारी–प्रायः सभी संचारी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। केवल जुगुप्सा, मरण आदि संचारी ही इसमें नहीं होते।

(i) संयोग शृंगार–परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की आपस में दृष्टि का आदान-प्रदान, मधुर सम्भाषण, आलिंगन, चुम्बन आदि रति के उपयोग से शृंगार की व्यंजना होती है। संयोग शृंगार के लिए केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि नायक और नायिका एक-दूसरे के समक्ष रहें बल्कि उनके हृदय में परस्पर प्रगाढ़ अनुराग की भावना भी होनी चाहिए। खण्डिता नायिका (**अन्य नायिका के साथ रति क्रीड़ा करके आने वाले नायक की दुःखी नायिका को खण्डिता नायिका कहते हैं।**) तथा नायक यदि परस्पर स्पर्श भी कर रहे हों तो भी वे वियुक्त ही माने जायेंगे–ऐसी दशा संयोग शृंगार की नहीं मानी जायेगी। संयोग अथवा वियोग मन की दशा पर अवलम्बित है। यदि नायक तथा नायिका के मन में परस्पर मिलन की प्रबल बेगवती भावना है, तब ही उनके मिलन को संयोग के अन्तर्गत रखा जायेगा। उदाहरणार्थ–

'चितवत चकित चहूं दिसि सीता। कहें गये नृप किशोर मन चीता।।
लता ओट तब सखिन्ह दिखाए। श्यामल गौर किशोर सुहाये।।
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने।।
थके नयन रघुपति छवि देखे। पलकन्ह हूं परिहरी निमेखे।।
अधिक स्नेह देह भई मीरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।।
लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी।।'

–तुलसीदास

यहाँ पर स्थायी भाव रति का आश्रय है सीता और आलम्बन हैं राम। लता मण्डप, उपवन, राम का मंजुल मनोहर रूप, छवि उद्दीपन है तथा लोचनों का ललचाना, अपलक दृष्टि आदि अनुभाव है। 'लोचन ललचाने' व्यंजित अभिलाषा 'हरषे' से व्यक्त

होने वाला हर्ष 'मनु सकुचानी' से व्यंजित व्रीड़ा आदि संचारी हैं। इस प्रकार विभावों, अनुभावों संचारियों द्वारा पुष्ट 'रति' नामक स्थायी भाव शृंगार रस की अभिव्यक्ति करता है।

अन्य उदाहरण– 'दोऊ जने दोऊ के अनूप रूप निरखत।
पावत कहूं न छवि सागर को छोर हैं।
चिंतामनि केलि के कानि विलासिन से,
दोऊ जने दोऊन के चित्तन के चोर हैं।
दोऊ जने मन्द मुस्कानि सुधा बरसत,
दोऊ जने छके मोद मद दुहूं ओर हैं।
सीता जी के नैन रामचन्द्र के चकोर भये,
राम-नैन सीता-मुख-चन्द के चकोर है।' –चिन्तामणि

(ii) **वियोग शृंगार**–परस्पर प्रीति में अनुरक्त नायक तथा नायिका के मिलन के अभाव में वियोग शृंगार की अभिव्यक्ति होती है। मिलन के अभाव के कई कारण सम्भव हैं–नायक का चला जाना, सामाजिक बन्धन आदि से बिछोह, नायक अथवा नायिका के मना करने से अथवा अन्य नायिका के अनुरक्त नायक को देखकर ईर्ष्या से। आचार्यों ने विरह को पाँच प्रकार का माना है–1. अभिलाषा मूलक, 2. मानमूलक, 3. ईर्ष्यामूलक, 4. प्रवासमूलक और 5. शापमूलक। आचार्यों ने विरह की दस दशाएँ भी मानी हैं–1. अभिलाषा, 2. चिन्ता, 3. स्मृति, 4. उद्वेग, 5. गुणकथन, 6. प्रलाप, 7. उन्माद, 8. व्याधि, 9. जड़ता और 10. मरण।

वियोग शृंगार सम्बन्धी 'सूरदास' का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

'अति मलीन वृषभानु कुमारी
हरि-स्रोत अंतर-तनु भीजै, ता लालच न धुआवति सारी।।
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।।
छूटे चिहुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।।
हरि-संदेश सुनि सहज मृतक भई इक विरहिन दूजे अलि जारी।।
सूर श्याम बिनु यों जीवित है, ब्रजवनिता सब श्याम दुलारी।।'

यहाँ पर स्थायी भाव रति के आश्रय हैं वृषभानुकुमारी (राधा) तथा आलम्बन है श्रीकृष्ण। विरह की स्मृति उद्दीपन, नीचा मुख करना, दृष्टि नहीं फेरना, कुम्हलाया बदन अनुभाव, 'अति मलीन', 'अधोमुख रहित उरध नहिं चितवति' आदि से व्यंजित दैन्य, ग्लानि तथा 'हरि संदेश मुनि सहज मृतक भई' से मरण आदि संचारी रति को पुष्ट कर रहे हैं।

अन्य उदाहरण– 'आये भुज-बन्ध दये ऊधव सखा के कन्ध,
डग-मग पांय मग धरत धराये हैं।
कहै 'रत्नाकर' न बूझै कछु बोलत औ,
खोलत न नैन हूँ अचैन चित छाये हैं।।
पाइ बहे कंज में सुगन्ध राधिका की मंजु,
ध्याए कदली बन मतंग लौ मताए हैं।।
कान्ह गए जमुना नहान पै नए सिर सौं,
नीकैं तहां नेह की नदी में न्हाइ आये हैं।।' – रत्नाकर

शृंगार रस का रसराजकत्व–शृंगार रस को सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। भारतीय आचार्यों ने शृंगार-रस को सबसे अधिक व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण रस माना है। उन्होंने इसे 'रसराज' की महती पदवी से विभूषित किया है। महर्षि व्यास ने शृंगार-रस की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए समस्त रसों का उद्गम शृंगार-रस से ही माना है–

'व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते।
तद्भेदाः कामभितरे हास्सवा अप्येनकशः।।'

आचार्य केशवदास 'नायक है सिंगार' मानते हैं तो बेनी प्रवीन भी उसे 'सकल रसन का राव' कहते हैं।

शृंगार भावना प्रत्येक वाणी में रहती है इसलिए शृंगार रस का इतना महत्त्व है। अभिनवगुप्ताचार्य ने कहा है कि शृंगार भाव जाति-सुलभ सामान्य भावना है तथा यह प्रत्येक काल और जाति में नित्य रूप से स्थित रहती है। अतः इस भावना का व्यापक से चित्रण तथा इसकी सर्वप्रमुखता स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि विश्व के सभी कवियों ने शृंगार-रस की थोड़ी-बहुत कवि अवश्य ही की है और प्रायः प्रत्येक महाकवि शृंगार में तो सिद्धहस्त ही होता है। शृंगार में–संयोग तथा वियोग–दो पक्ष होने कारण इसमें मानव-जीवन के भी दोनों पक्ष–सुखात्मक एवं दुखात्मक–आ जाते हैं। अतः शृंगार को 'रसराज' कहना उपयुक्त ही

2. हास्य रस

विचित्र रूप, वेश, वाणी, आकार कार्य आदि को देखकर जो हास का भाव हृदय में उत्पन्न होता है वहीं हास्य-रस अभिव्यक्ति करता है। उचित सीमा तक ही हास्य ठीक रहता है वरना सीमा के बाहर विचित्रता अनिष्ट का कारण हो सकती और वह करुण की व्यंजक हो सकती है। आचार्यों ने हास्य के छः भेद माने हैं–

1. **स्मित**–इसमें नेत्र खिल उठते हैं और ओष्ठ कम्पित हो उठते हैं।
2. **हसित**–इसमें कुछ-कुछ दन्त-पंक्ति भी दिखाई पड़ने लगती है।
3. **विहसित**–इसमें दन्त-पंक्ति दिखाई देने के साथ-साथ इसका मधुर शब्द भी होता है।
4. **अवहसित**–इसमें देह भी कम्पित होने लगती है।
5. **अपहसित**–इसमें आंखों में आंसू भी झलकने लगते हैं।
6. **अतिहसित**–इसमें समस्त देह जोर से कम्पित होने लगती है और हाथ-पैर हँसी के कारण पटके जाते हैं।

स्मित और हसित हास्य उत्तम पुरुषों में, अवसित आदि मध्यम पुरुषों में अतिहसित हास्य निकृष्ट पुरुषों में माना जाता है।

इस रस में केवल आलम्बन के वर्णन से ही रसानुभूति हो जाती है, आश्रय का वर्णन प्रायः नहीं होता। आश्रय पाठक, श्रोता या दर्शक ही रहता है।

स्थायीभाव–हास।

आलम्बन–विचित्र वेषभूषादि।

उद्दीपन–आलम्बन की चेष्टाएँ।

आश्रय–पाठक, श्रोता, दर्शक।

अनुभाव–मुख फेरना, व्यंग्य वाक्य कहना, ओष्ठ, नासिका, कपोल आदि का फड़कना, नेत्रों का पुलकित होना आदि।

संचारी–अश्रु रोमांच, कम्प, हर्ष, स्वेद, चांचल्य, आलस्य, निद्रा, अवहित्था आदि।

उदाहरण– **'विन्ध्य के वासी उदाती तपोवत धारी महा बिनु नारि दुखारे।**
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सूनि भे मुनि वृन्द सुखारे।।
ह्व है सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू! करुना करि कानन को पगुधारे।।' – तुलसीदास

उपर्युक्त उदाहरण में स्थायीभाव हास के आलम्बन है। रामचन्द्र, गौतम नारी के उद्धार का स्मरण उद्दीपन तथा मुक्ति की कथा सुनकर सुखी होना चन्द्रमुखी हो जाने के बारे में सोचना अनुभाव है। हर्ष, रोमांच आदि संचारी इसकी पुष्टि में सहायक है।

अन्य उदाहरण–

'आकाश पर जो मस्त जी की दृष्टि पड़ी,
भ्रम में पड़े शंका हुई उर बीच बड़ी,
यह छत न कहीं गिर पड़े आकर सिर पर,
जिसमें न है दीवार, न तख्ता, न कड़ी।
क्या विधि ने शम्भु संग भंग छानी है,
या बुद्धि ही उनकी हुई विरानी है।
ऐसी गढ़ी है छत, कि न जिसका आधार,
रुकता न जिसमें एक बूंद पानी है।' – हृषिकेश चतुर्वेदी

3. करुण-रस

प्रिय व्यक्ति अथवा इष्ट वस्तु के विनष्ट हो जाने से हृदय में उत्पन्न विषाद का भाव करुण रस की व्यंजना कराता है। विषाद की अनुभूति वियोग शृंगार में भी होती है लेकिन वहाँ करुणात्मक दुःख के साथ भविष्य में मिलने वाले मिलन-सुख की आशा भी विद्यमान रहती है, अतः वहाँ विषाद संचारी के रूप में ही रहता है, लेकिन करुण-रस में प्रिय वस्तु या व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर ही विषाद की अनुभूति होती है और भविष्य में उस वस्तु या व्यक्ति के मिलने की आशा कतई नहीं रहती। अतः वहाँ विषाद-जनित शोक स्थायी-भाव रहता है न कि संचारी। करुण के आचार्यों ने पांच भेद–1. करुण, 2. अतिकरुण, 3. महाकरुण, 4. लघुकरुण, 5. सुखकरुण–माने हैं।

स्थायीभाव–शोक।

आलम्बन–विनष्ट व्यक्ति, विनष्ट वस्तु आदि।

उद्दीपन–उसका शव, चित्र, गुण-कथनादि।

आश्रय–दुःखी वस्तु।

अनुभाव–देव-निन्दा, भूमि-पतन, रोना, दीर्घोच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ, प्रलाप आदि।

संचारी–निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम आदि।

उदाहरण–

'मेरो सब पुरुषारथ थाक्यो।
बिपति बंटावन हार बन्धु बिनु करौ भरोसो काको ॥
सुन सुग्रीव! साँचेह मो-पर फेर्‌यो बरन विधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लखन-सो भ्राता ॥
गिरि कानन जैहै साखामृग, हौं पुनि अनुज संघाती।
ह्वै है कहा विभीषण की गति, रही सोच भरि छाती ॥
तुलसी सुनि प्रभु बचन भालु कपि सकल विकल हिय हारे।
जामवन्त हुनमान बोलि तब, औसर जानि प्रचारे ॥' – तुलसीदास

यहाँ पर लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर श्री रामचन्द्र जी के शोक करने में करुण-रस की व्यंजना है। यद्यपि लक्ष्मण जी के केवल शक्ति लगी है किन्तु रामचन्द्रजी उनकी मृत्यु की सम्भावना करके विलाप कर रहे हैं। अस्तु, शोक स्थायीभाव के आश्रय हैं राम तथा लक्ष्मण आलम्बन है। शरण में आये हुए विभीषण का परित्याग करके आत्म-हत्या का विचार करना उद्दीपन है। सुग्रीव से शोक भरे शब्द कहना अनुभाव है। ग्लानि, चिन्ता, 'ह्वै है कहा विभीषण की गति' से 'विपति बंटावन हार बन्धु बिनु करौं भरोसो काको' में व्यंजित दैन्य संचारी हैं। इस प्रकार विभावादि से पुष्ट शोक स्थायीभाव की यहाँ करुण रस में व्यंजना हुई है।

उदाहरण अन्य– **'सुनत भरत-भय विवस विषादा। जनु सहमेऊ केहरि करि नादा।**
तात! तात! हा तात! पुकारी। परे भूमि-तल व्याकुल भारी।
चलत न देखन पायउ तोही। तास न रामहिं सौंपहु मोही ॥' – तुलसीदास

4. वीर-रस

प्रलाप, विनय, अध्यवसाय, स्वत्व (धैर्य), अविषाद (हर्ष), विक्रम आदि विभावों में उत्साह स्थायी भाव का वीर-रस में परिपाक होता है।

आचार्यों ने वीर-रस के प्रधान तीन भेद माने हैं–युद्ध-वीर, दया-वीर तथा दानवीर। इन सब में युद्ध-वीर को प्रधानता दी जाती है। कोई-कोई आचार्य धर्म-वीर, सत्य-वीर आदि और भी भेद करते हैं। अतः इस प्रकार वीर रस के कई भेद हो सकते हैं।

स्थायीभाव–उत्साह।

आलम्बन–वह परिस्थिति या व्यक्ति जिसका वीर को सामना करना पड़े।

उद्दीपन–शत्रु के कार्य-कलाप, चारण गीत, दानपात्र की प्रशंसा आदि।

आश्रय–उत्साहित व्यक्ति।

अनुभाव–वीर की युद्ध क्रिया, गर्वोक्ति, याचक का आदर-सत्कार आदि।

संचारीभाव–हर्ष, उग्रता, अमर्ष, गर्व आदि।

'जो हौं अब अनुशासन पावौं।
तौ चन्द्र निचोरि चैल ज्यौं आनि सुधा सिर नावौं ॥
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृत-कुण्ड महि लावौं।
भेद भुवन करि भानु बाहिरौ तुरत राहु दै तावौं ॥
बिबुध, बैद बद्बस आनौं धरि, तौ प्रभु अनुज कहावौं।
पटकौं मीच नीच मूसाक-ज्यों सबहि को पाप कहावौं॥' – तुलसीदास

लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर तथा श्रीराम के करुण विलाप करने पर जिसका उल्लेख करुण-रस के प्रसंग में कर दिया गया है, हनुमान के हृदय में स्थित उत्साह स्थायीभाव की व्यंजना है। अतः हनुमान जी आश्रय हैं, लक्ष्मण जी की मूर्छितावस्था आलम्बन है और रामचन्द्र जी का विलाप उद्दीपन है। पराक्रम तथा गर्व से भरे हुए वाक्य अनुभाव है तथा **'भेद भुवन करि भानु बाहिरौ, तुरन्त राहु दै तावौ'** तथा **'पटकौं मीच नीच मूसक ज्यों'** से व्यंजित अमर्ष संचारी भाव है। इस प्रकार से विभावादि से पुष्ट उत्साह स्थायीभाव की यहाँ वीर-रस में व्यंजना है।

अन्य उदाहरण– **'मैं सत्य कहता हूँ सखे सुकुमार मत जानो मुझे।**
यमराज से भी युद्ध में प्रस्तुत सदा जानो मुझे ॥
है और की तो बात क्या, गर्व मैं करता नहीं।
मामा तथा निज तात से युद्ध में डरता नहीं ॥' – मैथिलीशरण गुप्त

5. रौद्र रस

अपना अनिष्ट या अपमान होने के कारण उत्पन्न क्रोध से रौद्र-रस की व्यंजना होती है।

स्थायीभाव–क्रोध।

आलम्बन–अनिष्टकारक शत्रु।

उद्दीपन–शत्रु के द्वारा की गई गर्वोक्ति, शस्त्रों की चमचमाहट आदि।

आश्रय–क्रोधित व्यक्ति।

अनुभाव–होंठों को दाँतों से दबाना, कम्प, भृकुटी टेड़ी करना, मुख का आरक्त होना, धरती को जोर से चांपना आदि।

संचारी–स्मृति, अमर्ष, गर्व आदि।

उदाहरण– **'उबल उठा शोणित अंगों का, पुतली में उतरी लाली।**
काली बनी स्वयं वह बाला, अलक-अलक विषधर काली॥
बढ़ कर तन के रोम-रोम में, धधक उठी दृग की ज्वाला।
अंगारों में फूट पड़ीं यों, उसके रंग-रथ की ज्वाला ॥
पाप शाप! अब भी असह्य है, कुटिल प्रवञ्चन यह तेरा।
मुझे जान पड़ता है मानों, तुझे आज यम ने घेरा ॥
अरे नराधम नहीं जानता, हैं तामस दुःसह मेरा।
हो जायेगा भस्म कि जिसमें, राजपाट सब यह तेरा ॥' – सुधीन्द्र

उपर्युक्त उदाहरण में स्थायीभाव क्रोध का आलम्बन अलाउद्दीन तथा आश्रय पद्मिनी है। अलाउद्दीन द्वारा भेजा गया संदेश उद्दीपन है और लाल नेत्र होना, आकृति विकराल होना, बालों का बिखरना, क्रोध भरे वचन कहना आदि अनुभाव के अन्तर्गत आयेंगे। चांचल्य, अमर्ष आदि संचारी इसे पुष्ट करते हैं।

अन्य उदाहरण– **'दुर्द्धर्ष से जलते हुए उत्ताप के उत्कर्ष से।**
कहने लगे तब वे अरिन्दम वचन व्यक्त अमर्ष से।
सुर, नर, असुर, गंधर्व, किन्नर आदि कोई भी नहीं।
कल शाम तक मुझसे जयद्रथ को बचा सकता नहीं।। ' **– मैथिलीशरण गुप्त**

6. भयानक रस

भयप्रद दृश्य को देखने, स्मरण करने अथवा उसकी प्रतीति से उत्पन्न भय भयानक रस की व्यंजना कराता है।

आलम्बन–भयप्रद जीव, वस्तु, दृश्य आदि।

उद्दीपन–दृश्य की भीषणता को बढ़ाने वाले व्यापार।

अनुभाव–स्वेद, कम्प, रोमाञ्च, स्वरभंग, पलायन, मूर्छा आदि।

आश्रय–भयभीत व्यक्ति।

संचारी–सम्भ्रम, आवेग, त्रास, शंका, दैन्य, चिन्ता आदि।

उदाहरण– **'प्रवाहिता उद्धव तीव्र वायु से, विघूर्णिता हो लपटें दावाग्नि की।**
नितान्त ही थीं बनतीं भयंकारी, प्रचण्ड दावा प्रलयंकारीसभा ॥
अपार पक्षी पशु त्रस्त हो महा, सव्यग्रस्ता थे सब ओर भागते।
नितान्त हो भीत सरीसृपादि भी, बने महा व्याकुल हो पलारहे ॥
पला रहे थे उसको विलोक के, असंख्य प्राणी वन में इतस्ततः।
गिरे हुए थे महि में अचेत हो समीप ही गोप सधेनु मण्डली।' **– अयोध्यासिंह उपाध्याय**

यहाँ पर दावाग्नि भय का आलम्बन है तथा पशु-पक्षी, मनुष्य, गोप आदि आश्रय हैं। दावाग्नि की विघूर्णिता समुस्थिता लहरें उद्दीपन विभाव हैं। पशु-पक्षी, मनुष्यों का इतस्ततः भागना अनुभाव है। आवेग 'सव्यग्रता से सब ओर भागते' से व्यंजित मूर्छा, 'गिरे हुए थे महि में अचेत हो' से व्यंजित त्रास संचारी हैं। इस प्रकार विभावादि से पुष्ट भय स्थायीभाव की भयानक-रस में व्यंजना हुई है।

अन्य उदाहरण– **'झहरात भहरात दावानल आयौ।**
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अन्दोर वन धरनि अकास छहुं पास छायौ ॥
बरत बनवांस थरहरत कुसकास जरि उड़त है भांस अति प्रबल धायो।
झपटि-झपटि लपट फूलफलछटछटाति फटत न लटपट की द्रुमन वायौ।
अति अगिनि झार झंझार धुन्धार परि उछटि अंगार झंमार छायो।
बरत वनपात भहरात भहरात अररात तरु महा धरनि गिरायौ॥' **– सूरदास**

7. वीभत्स रस

रुधिर, अस्थि, मांस, मज्जा आदि घृणित वस्तुओं को देखने अथवा श्रवण करने से उत्पन्न हुई घृणा वीभत्स-रस की व्यंजना करती है। स्त्रियों की जंघाएँ, स्तन आदि शृंगार-रस के उद्दीपक हो सकते हैं। लेकिन वैराग्य होने पर उन्हीं अंगों पर दृष्टि डालने से घृणा उत्पन्न होती है जो वीभत्स की प्रतीति कराती है। वीभत्स दृश्यों के अवलोकन से संसार की निस्सारता का आभास होता है, इससे विरक्ति का भाव पैदा होता है; इस विरक्ति की ओर अग्रसर करने के कारण वीभत्स-रस को शान्त रस का सहायक भी माना गया है।

स्थायीभाव–जुगुप्सा या घृणा।

आलम्बन–घृणित वस्तु, दृश्य या व्यक्ति

उद्दीपन–दुर्गन्ध, कुरूपता, कीड़े-मकौड़े आदि।

अनुभाव–कोच, मुख मोड़ना, आदि।

संचारी–आवेग, व्याधि, ग्लानि, अपस्मार, मोह आदि।

उदाहरण– 'सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहि स्यार अतिहिं आनन्द उर धारत॥
गिद्ध जाँघ को खोदि-खोदि के मांस उपारत।
स्वान आँगुरिन काटि-काटि कैं खात विदारत ॥
बहु चील नोंचि लै गात नुच मोद भर्‌यौ सबको हियो।
जनु ब्रह्म-भोज जिनमान कोट आज भिखारिन को दियो ॥' – भारतेन्दु बाबू हरिश्च

यहाँ पर श्मशान का दृश्य आलम्बन, मृतकों के अंगों को काकादि द्वारा खाया जाना उद्दीपन है। स्वयं पाठक जुगुप्सा, स्थायीभाव के आश्रय हैं, अतः अनुभावों का वर्णन नहीं है। यहाँ केवल विभावादि से जुगुप्सा स्थायीभाव की वीभत्स-रस में व्यंजना हुई है।

अन्य उदाहरण– 'ओझरी की झोरी काँधे आंतनि की सेल्ही बाँधे,
मूंड के कमण्डल खपर किये कोरि कैं।
जोगिनी झुण्ड-झुण्ड बनी तापसी सी,
तीर-तीर बैठी सो समर सरि खोरि कै ॥
सोनित सी सानि-सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि-घोरि कै।
तुलसी बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ,
हेरि-हेरि हँसत है हाथ-हाथ जोरि कै ॥' – तुलसीदास

8. अद्‌भुत रस

अलौकिक प्रसंग की प्रतीति से उत्पन्न विस्मय अद्‌भुत-रस की व्यंजना कराता है। चमत्कार की आचार्यों ने रस का सार कहा है, अद्‌भुत-रस का प्राण चमत्कार ही होता है–इसी आधार पर धर्मदत्त, नारायण पण्डित आदि आचार्य भी अद्‌भुत रस की प्रमखता देते हुए उसे समस्त रसों का सार प्रतिपादित करते हैं।

स्थायीभाव–विस्मय अथवा आश्चर्य।

आलम्बन–अलौकिक दृश्य या वस्तु।

उद्दीपन–आलम्बन की ऐन्द्रजालिक तथा विस्मयकारी क्रियाएं आदि।

अनुभाव–नेत्र विस्फारित करना, रोमांच होना, गद्‌गद् होना, प्रफुल्ल होना, स्तम्भित हो जाना आदि।

संचारी–चांचल्य, हर्ष, औत्सुक्य शंका वितर्क, स्वेद, आवेग आदि।

उदाहरण– 'दुवन दुसासन दुकूल गह्यौ दीनबन्धु,
दीन ह्वै कै द्रुपकुमारी यौं पुकारी है।
छोड़े पुरुषारथ की ठाड़ पिय पारथ से,
भीम महाभीम प्रीव नीचे की निहारी है ॥
अम्बर तो अम्बर अमर कियो वंशीधर,
भीषम करन द्रोन शोभा यों निहारी है।
सारी मध्य नारी है कि नारी मध्य सारी है,
कि सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है॥'

चीर का एकदम से बढ़ना देखकर भीष्म, कर्ण, द्रोणाचार्य आदि के हृदय में विस्मय का भाव उत्पन्न होता है। चीर आलम्बन है तेजी से चीर का बढ़ना उद्दीपन के अन्तर्गत आयेगा। नेत्रों का विस्तरित होना आदि अनुभाव के अनुमान द्वारा जाना जा सकता है। औत्सुक्य आदि संचारी है।

अन्य उदाहरण– 'लीन्हों उखारि पहारि विसाल, चल्यो तेहि काल विलम्ब न लायौ।
मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायौ ॥
तीखी तुरा तुलसी कहे तौंपे, उपमा को समाउ न आयौ।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लखी कपि यों धुकि धायौ ॥' – तुलसीदास

9. शान्त रस

संसार की निस्सारता को देखकर अथवा तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद शान्त रस की व्यंजना कराता है। कुछ आचार्य शान्त रस का स्थायीभाव उत्साह मानते हैं जबकि कुछ आचार्य इसका स्थायीभाव जुगुप्सा इस आधार पर मानते हैं कि संसार की असारता को देखकर हृदय में उत्पन्न संसार के प्रति घृणा ही शान्त-रस की व्यंजना करती है। किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि घृणा की भावना वैराग्य की पुष्टि ही करती है और अन्त में लोप हो जाती है क्योंकि वहाँ घृणा का स्थान उदासीनता ले लेती है। अतः निर्वेद को ही स्थायीभाव कहना अधिक उचित है।

स्थायीभाव–निर्वेद।

आलम्बन–असार संसार, शरीर, शास्त्र, चिन्तन, तीर्थाटन आदि।

उद्दीपन–संत वचन, आश्रम, मृतक, दर्शन, एकान्त आदि।

अनुभाव–रोमांच, संसार, भीरुता, तल्लीनता, उदासीनता आदि।

संचारी–मति, धृति, स्मृति, हर्ष, विबोध आदि।

उदाहरण– **'भागीरथ जलपान करौ,**
अरु नाम द्वै राम को लेत सदा हौं।
मोकों न लेनो न देनों कछू,
कलि! भूलि न रावरी और चितैहौं।
जानि कै जोर करौं परनाम,
तुम्हें पछितैहौ पै मै न मितेहौ।
ब्राह्मन ज्यौं उगिल्यौ उरगारि,
हौं त्यों ही तिहारे हिये न मिते हौं ॥" **– तुलसीदास**

यहाँ पर शम या निर्वेद स्थायीभाव के आश्रय हैं स्वयं तुलसीदास। राम का नाम आलम्बन है। कलिकाल की करालता, कपटादि उद्दीपन हैं। परम-संतोष की अवस्था **'भागीरथ जलपान करौ, अरु नाम द्वै राम को लेत सदा हौं।'** से व्यंजित आत्म-विश्वास अनुभाव है। मति, धृति, स्मृति आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार विभावादि से पुष्ट शम स्थायीभाव की यहाँ शान्त-रस में व्यंजना हुई है।

अन्य उदाहरण– **'जानि पर्‌यो मोको असत अखिल यह**
ध्रुव आदि काहू को न सर्वदा रहन है।
याते परिवार व्यवहार जीत हारादिक
त्याग करि सबहि विकसित रह्यो मन है।
'ग्वाल' कवि कहे मोह काहू मैं न रुह्यौ मेरो
क्योंकि काहू के न संग गयो तन धन है।
कीन्हें मैंने एक विचारि एक ईश्वर ही सत्य नित्य
अलख अपार चारु चिदानन्द धन है।' **– ग्वालि कवि**

10. भक्ति रस

क्या भक्ति स्वतंत्र रस है?

अधिकांश आचार्यों ने भक्ति रस को स्वतंत्र रस नहीं माना है। प्रथम भारतीय आचार्य भरतमुनि ने भक्ति को शान्त रस के अन्तर्गत मानकर ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य कर दिया है। किन्तु बाद के आचार्यों ने इसका विरोध किया है। ज्ञान और भक्ति में सामंजस्य करना कठिन है क्योंकि ज्ञान में विराग प्रधान रहता है जबकि भक्ति में इसके विपरीत राग प्रधान रहता है।

इस राग की प्रधानता के कारण ही आचार्यों ने भक्ति को शृंगार-रस के अन्तर्भूत कर दिया है। भक्ति-रस में भी इष्टदेव के प्रति ही स्थाई भाव रहता है। किन्तु बहुत से आचार्य इससे भी सहमत नहीं हैं। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' में शृंगार की व्याख्या करते हुए लिखा है–

"शृंगहिमन्यथोद्रेकरस्तदागमनहेतुकः।"

अर्थात् शृंग (कामदेव) के आने का हेतु ही शृंगार है अतः इस परिभाषा के अन्तर्गत दाम्पत्य-रति ही आ सकती है। देवता, गुरु, ईश्वर आदि विषयक रति शृंगार की इस परिभाषा की सीमा में नहीं समा सकती। अतः भक्ति को स्वतंत्र-रस मानना ही अधिक समीचीन है। भक्ति-रस को स्वतंत्र-रस न मानने वाले आचार्यों ने इस सम्बन्ध में और आक्षेप प्रस्तुत किये हैं; उनका कहना है कि भक्ति सहजवृत्ति नहीं है क्योंकि शिशु में यह भावना विद्यमान नहीं रहती, लेकिन यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि शिशु में तो शृंगार की मूल दाम्पत्य रति की भावना भी तो नहीं रहती। फिर, मूल-वृत्तियों को ही रस का एकमात्र आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि कई मान्य स्थायीभाव ऐसे भी हैं जो मूल-प्रवृत्तियों के अलावा है। भक्ति को रस मानने में कोई तात्त्विक आपत्ति नहीं है क्योंकि भक्ति में आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी आदि रस के सभी अंग-प्रत्यंगों का अन्य रसों की भाँति समुचित योग होता है। आश्रय के हृदय में अपने आराध्य के प्रति उठते भावों का पूर्ण उत्कर्ष भी होता है और उसका वर्णन भी कवि पूर्ण सफलता के साथ करते हैं। कबीर, सूर, तुलसी आदि अनेक प्राचीन तथा भारतेन्दु, गुप्त आदि अनेक नवीन कवियों ने प्रचुर मात्रा में भक्ति-सम्बन्धी कविताओं की रचना की है और उनका महत्त्व किसी भी प्रकार से अन्य रसों से सम्बन्धित कविताओं से कम नहीं है। कई आचार्यों ने तो भक्ति को अन्य रसों से श्रेष्ठ प्रमुख रस माना है।

भक्ति रस का विवेचन–ईश्वर, देवता, गुरुजन आदि के प्रति श्रद्धा मिश्रित रति-भाव भक्ति की व्यंजना कराता है।

स्थायीभाव–देवानुराग।

उद्दीपन–ईश्वर, देवता अथवा गुरु का कल्याणकारी कार्य उसका लोक मंगलकारी रूप, भजन, उपदेश आदि।

आश्रय–भक्त।

अनुभाव–नेत्रों को बन्द करना, गद्‌गद् होना, झूमना, रोमांचित होना, आँखों में आंसू आना, नाचना-गाना आदि।

संचारी–आवेग, चाँचल्य, दैन्य, स्मृति आदि।

उदाहरण– **'जाको हरि दृढ़ करि अंग पकर्‌यो।**
सोइ सुसील तुनीत, वेद विद विद्या गुननि भर्‌यो॥
उतपति पांडु-सुतन की करनी सुनि सतपंथ डर्‌यो।
ते त्रैलोक्य-पूज्य, पावन जस सुनि-सुनि लोक तर्‌यो॥
जो निज धरम वेद सो करत न कछु विसर्‌यो।
बिन अवगुन कृकलासकूप मज्जित कर गहि उधर्‌यो॥
ब्रह्म बिसिख ब्रह्मांड दहन छम गर्भ न नृपति जर्‌यो।
अजर-अमर कुलसिंहुँ नाहित वध सो पुनि फेरि मर्‌यो॥
विप्र अजामिल अरु सुरपति ते कहा जो नहिं बिगर्‌यौ।
उनको कियोसहाय बहुत उर को संताप हर्‌यो॥
गनका अरु कंदरप ते जग महं अध न करत उबर्‌यो।
तिनको चरित्र पवित्र जानि हरि निजहृद-भवन धर्‌यो।
केहि आचरन भली मानों प्रभु सो तौ न जानि पर्‌यो।
'तुलसीदास' रघुनाथ-कृपा को जोवत पंथ खर्‌यो॥'

यहाँ पर इष्टदेव-विषयक रति के आश्रय हैं तुलसीदास तथा आलम्बन है भगवान राम। रामचंद्र जी के गुण, कृपालुता, भक्त-वत्सलता आदि उद्दीपन है। श्री रामचंद्र जी का गुण-कथन अनुभाव के अन्तर्गत आयेगा। हर्ष तथा स्मृति संचारी है। इस भाँति विभावादि में पुष्ट देव विषयक रति की यहाँ भक्ति-रस में व्यंजना हुई है।

11. वात्सल्य रस

क्या वात्सल्य स्वतंत्र रस है?

भक्ति-रस की भाँति बहुत से आचार्यों ने वात्सल्य को भी स्वतंत्र रस की कोटि में न रखकर शृंगार-रस के अन्तर्गत ही रखा है किन्तु इसके कई आचार्य ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने वात्सल्य को एक पृथक् रस माना है। आचार्य रुद्रट ने बहुत पहले ही 'प्रेयान्' रस की पृथक् कल्पना करके प्रकारान्तर से वात्सल्य रस की सत्ता को स्वीकार किया है। उन्होंने इसका स्थायीभाव 'स्नेह' माना है। धारनरेश भोज ने स्पष्ट ही वात्सल्य को पृथक् रस माना है। हरपालदेव ने भी वात्सल्य रस को स्वतंत्र रस माना है। विश्वनाथ ने 'प्रेयान्' के स्थान पर स्पष्ट ही वात्सल्य नाक देकर उसे दशम रस कहा है। अभिनव-गुप्ताचार्य ने भी वात्सल्य रस को स्वतंत्र माना है। पंडितराज जगन्नाथ यद्यपि वात्सल्य रस की सत्ता को तो स्वीकार करते दिख पड़ते हैं लेकिन कहीं भरत द्वारा निर्धारित नवरसों की संख्या भंग न हो जाये – इस भय और संकोच के कारण वे उसे पृथक् रस नहीं मानते। वात्सल्य रस में भी अन्य रसों की भांति आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी आदि रस के सभी अंगों का समुचित योग होता है। इसे केवल भाव या चमत्कार भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका भी अन्य रसों की भांति पूर्ण आस्वाद योग्य परिपाक होता है। सूर, तुलसी जैसे महाकवियों ने वात्सल्य रस का पूर्ण परिपाक अपने काव्य में किया है और पाठक भी उससे पूर्ण रसास्वादन ग्रहण करते हैं–अतः वात्सल्य रस को रस मानना न्याय-संगत है।

वात्सल्य रस का विवेचन–शिशु की मोद भरी क्रीड़ाओं को देखकर हृदय में उत्पन्न स्नेह का भाव ही वात्सल्य की व्यंजना करता है।

स्थायीभाव–वात्सल्य।

आलम्बन–शिशु

उद्दीपन–शिशु का भोला-रूप, क्रीड़ा, चंचलता, उछलना-कूदना आदि।

आश्रय–माता-पिता, गुरुजन आदि।

अनुभाव–कपोल का चुम्बन, उछालना, छाती से चिपटाना आदि।

संचारी–आवेश, हर्ष, औत्सुक्य, गर्व आदि।

उदाहरण–

'किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मनिमय कनक नन्द के आंगन बिम्ब पकरिबे धावत।
कबहुँ निरख हरि आपु छांह कों कर सों पकरन चाहत।
किलकि हंसत राजतद्वै देंतियाँ पुनि-पुनि तिहि अवगाहत ॥
कनक भूमि पर कर पग-च्छाया बह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रति मनि वसुधा कमल बैठकी साजति।
बालदशा सुख निरखि जसोदा पुनि-पुनि नन्द बुलावति।
अंचरा तन लै ढांकि सूर के प्रभु कौ दूध पियावति ॥' **– सूरदास**

उपर्युक्त पद में वात्सल्य आलम्बन हैं, बालकृष्ण और आश्रय है यशोदा। श्रीकृष्ण का घुटनों चलना, आंगन के बिम्ब को पकड़ना, दन्त पंक्ति का मुस्कराते समय झलकना आदि उद्दीपन हैं। यशोदा का श्रीकृष्ण को देखना पुलककर नन्द को बुलाना, दूध पिलाना आदि अनुभाव तथा यशोदा के पुलकने से व्यंजित हर्ष गर्व आदि संचारीभाव हैं। इस प्रकार यहां वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति हुई है।

◆◆◆

7. अलंकार सिद्धांत : स्वरूप और स्थापनाएँ

1. अलंकार का अर्थ बताते हुए अलंकार सिद्धांत की अवधारणा एवं स्वरूप के विकास पर प्रकाश डालिए। (Most Imp.)

अथवा

अलंकार सिद्धांत की अवधारणा व स्वरूप की विकासमान परंपरा का परिचय दीजिए।

अथवा

अलंकार सिद्धांत का वर्णन कीजिए।

उत्तर–अलंकार का अर्थ–अलम् + कृ + घञ् = अलंकार। अलंकार का व्युत्पत्तिलभ्य होता है–"अलम्-भूषणं सज्जा वा करोति इति अलङ्कारः", अर्थात् जो (काव्य को) मण्डित अथवा शोभित करता है अलंकार कहलाता है।

'अलम्' के कई कोषीय अर्थ होते हैं; यथा–मण्डन, सज्जा, भूषण, बिच्छू का डंक, पीला हरताल इत्यादि। प्रस्तुत संदर्भ में इसका अर्थ मण्डन या सज्जा ही होगा।

अलंकार की तीन व्युत्पत्तियाँ लक्षित होती हैं–

1. 'अलंकरोति इति अलंकारः', जो रचना को अलंकृत करता है, अलंकार है।
2. 'अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः', अर्थात् जिससे (काव्य) अलंकृत किया जाता है, वह अलंकार है।
3. 'अलंकृतिरलंकारः अथवा सौन्दर्यमलंकारः' (वामन), अर्थात् अलंकृति/सौन्दर्य (ही) अलंकार है।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार, अलंकार कर्ता या विधायक है, जबकि द्वितीय के अनुसार, साधन मात्र। तृतीय व्युत्पत्ति के अनुसार, अलंकार सौन्दर्य का समानार्थी (पर्यायवाची) है। इन तीनों व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों में दूसरा अपेक्षाकृत अधिक सार्थक प्रतीत होता है; क्योंकि अलंकार काव्य-शोभा का साधन मात्र है, न कि साध्य। इसी को आधार बनाकर अधिकांश आचार्यों ने अलंकार को परिभाषित किया है। आचार्य भरत के अनुसार–

अलंकारश्च गुणश्चैवबहुभिः समलंकृतः। (नाट्यशास्त्र)

अर्थात् (काव्य) अलंकार तथा गुणों के द्वारा बहुविध रूपों में अच्छी तरह अलंकृत होता है।

भरत के इस लक्षण में अलंकार को काव्य को शोभकारक अथवा सौन्दर्यवर्द्धक साधन बताया गया है, जो उचित ही है।

अग्निपुराण के अनुसार–

"काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।" (अर्थात् काव्य **अलंकार की अवधारणा** एवं स्वरूप की विकासमान परंपरा)

अलंकार की अवधारणा एवं स्वरूप की विकासमान परंपरा

भारतीय काव्यशास्त्र में रस सम्प्रदाय के पश्चात् अलंकार सम्प्रदाय का विशेष स्थान माना गया है। आचार्य भामह इस सम्प्रदाय के प्रमुख उन्नायक या प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। उनके अतिरिक्त आचार्य दण्डी, उद्भट्ट, रुद्रट, प्रतिहारेन्दु आदि भी इस सम्प्रदाय के आचार्य कहे गए हैं। जहाँ एक ओर रस सम्प्रदाय के आचार्य रस को ही सम्प्रदाय की आत्मा कहते हैं, वहीं अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व माना है। उनका कथन है कि यदि उष्णता के अभाव में अग्नि को अग्नि नहीं समझा जाता तो अलंकार विहीन काव्य को काव्य कैसे मान सकते हैं। चन्द्रालोक के अनुसार–

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।।

आचार्य भामह द्वारा सम्प्रदाय के रूप में स्थापित होने के कुछ पूर्व अस्तित्व में आए 'अग्निपुराण' में न सिर्फ अलंकार की परिभाषा की गई है, अपितु कई भेद-प्रभेद भी किये गए हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में भामह ऐसे पहले आचार्य हुए जिन्होंने अलंकार को ऐतिहासिक पहचान दिलाई। फिर तो दण्डी, उद्भट, रुद्रट, मम्मट, भोज प्रभृति कई स्वनामधन्य आचार्यों ने अलंकार-विषयक मौलिक स्थापनाएं की।

यूँ तो आचार्य भरत ने नाट्य शास्त्र में अलंकारों की चर्चा की है, परन्तु उनसे पहले भी कुछ विद्वानों के नाम अलंकार से जुड़े हुए हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में एक व्यक्ति दुहिण का उल्लेख हुआ है जो अलंकारों से संबंधित था। रसवादी आचार्य होने के कारण आचार्य भरत ने अलंकारों को विशेष महत्त्व नहीं दिया। भरत पूर्व विद्वानों में प्रचेतायन का उल्लेख मिलता है जिसने अनुप्रास अलंकार की उद्भावना की, शेव ने श्लेष अलंकार की, ओपाकायन ने उपमा की तथा पराशर ने अतिशयोक्ति अलंकार की उद्भावना की, चित्रांगद ने यमक अलंकार के बारे में विवेचना की। ये सभी विद्वान भरत के पूर्वकालीन आचार्य थे। वस्तुतः काव्यशास्त्र के प्रवर्तन से पूर्व ही अलंकारों की चर्चा होने लग गयी थी। स्वयं आचार्य भरत ने अपनी रचना नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक चार अलंकारों का उल्लेख किया। 'निरूपत और निघण्टु' आदि रचनाओं में भी अलंकार निरूपण का प्रयास किया गया। निघण्टु में तो वैदिक उपमा का अध्ययन करते हुए उसके बारह भेद भी बताए गए हैं।

अलंकारवादी संस्कृत आचार्यों का मत–अलंकारवादी आचार्यों में भामह, दण्डी, रूद्रट तथा उद्भट्ट के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। अलंकार शब्द का अर्थ है–अलंकरोतीति अलंकाराः अर्थात् जो अलंकृत करता है, सजाता है, सौन्दर्य प्रदान करता है वह अलंकार है।

• **भामह**–इनको अलंकार सिद्धान्त का प्रवर्त्तक कहा गया है। इनका समय छठी शताब्दी के लगभग है। भामह ने न केवल सैंतीस अलंकारों का निरूपण किया, बल्कि यह भी घोषणा की कि अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। उन्होंने अलंकार की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी लेकिन उन्होंने कहा–

वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।

अर्थात् शब्द तथा अर्थ की वक्रतामयी उक्ति का नाम अलंकार है। उनका यह भी कथन है कि वक्रता के कारण शब्द और अर्थ चमत्कृत हो जाते हैं। यही वक्रता सभी अलंकारों का मूल आधार है लेकिन उन्होंने काव्य में वर्ण-विन्यास, शब्द-विधान तथा वक्रोक्ति आदि में अलंकार को प्रमुख स्थान दिया। उनका कथन है कि जिस कथन में वक्रता नहीं है वह केवल वार्ता मात्र है। अलंकार के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा कि सुन्दर से सुन्दर नारी भी अपने सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए बिन्दी, काजल आदि का प्रयोग करती है। उनका कथन है कि आभूषण के बिना नारी का मुख सुन्दर नहीं लगता–

रूपकादिमलंकार स्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि भामह वक्रोक्ति के बिना काव्य को अलंकारहीन मानते हैं। उन्होंने वक्रोक्ति के बारे में भी परिभाषा दी–"सामान्य लोक प्रचलन का अतिक्रमण करने वाला वचन ही वक्रोक्ति है।" भामह ने काव्य के बारे में जो परिभाषा दी उसके आधार पर वे शब्दालंकार तथा अर्थालंकार को ही काव्य का प्राण मानते हैं। वे लिखते हैं–

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

भामह का यह कथन है कि केवल शब्द और अर्थ काव्य का निर्माण नहीं करते बल्कि शब्दालंकार और अर्थालंकार काव्य का निर्माण करते हैं। उन्होंने रीति के बारे में भी अपने विचार व्यक्त किए और कहा चाहे रीति वैदर्भी हो या गौड़ीय हो, अलंकार और वक्रता के बिना वह महत्त्वहीन है। एक स्थल पर वे अपनी रचना काव्यालंकार में कहते हैं कि कथित शब्दों में जब वक्रता वक्रार्थ होता है तब उसे अलंकार कहा जाता है–

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिऽनयाऽथो विभाव्यते।
यत्नो अस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारो न बिना।।

यही नहीं भामह ने उत्कृष्ट काव्य गुणों से युक्त काव्य को केवल वक्रोक्ति हीनता के कारण 'श्रुति पेशल' कहा। उसका काव्य मूल्य स्वीकार नहीं किया। वे कहते हैं–

अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसादमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयभिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्।।

यही नहीं भामह ने गुणों को भी अलंकार पर आश्रित माना। संक्षेप में कह सकते हैं कि भामह ने अलंकार को काव्य का प्राण माना और वक्रोक्ति को अलंकार का प्राण माना।

• **आचार्य दण्डी**–काव्यशास्त्र में अलंकार सम्प्रदाय से संबंधित दूसरे आचार्य दण्डी हैं। उन्होंने जहाँ एक ओर शब्द और अर्थ के शहीद भाव को काव्य माना और शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों को समान महत्त्व दिया, वहाँ दूसरी ओर इष्टार्थमयी पदावली

को काव्य मानकर केवल शब्द को ही गौरव प्रदान किया। दण्डी की प्रमुख देन यह है कि उन्होंने गुणों को निरपेक्ष तथा स्व काव्य को आत्मा के रूप में स्वीकार किया और अलंकारों को भी महत्त्व प्रदान किया। इसके विपरीत भामह ने सौन्दर्यातिशय तत्त्व के रूप में प्राप्त होने वाले गुणों की अपेक्षा अलंकारों को अधिक महत्त्व दिया परन्तु दण्डी ने अपनी रचना काव्यादर्श एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा कि काव्य के शोभाकारक सभी प्रकार के धर्म अलंकार हैं। अलंकार की परिभाषा हुए उन्होंने लिखा–

काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

दण्डी ने काव्य के उन सभी तत्त्वों को अलंकार माना जिससे काव्य शोभा की वृद्धि होती है। साथ ही उन्होंने अलंकारों की संख्या अपार और संवर्द्धनशील मानी। रस को भी अलंकारों में समाहित करते हुए रसवत् अलंकार की मौलिक उद्भावना की। दण्डी ने भाविक आदि भावों को भी अलंकारों में मिला लिया और अतिशयोक्ति को सर्वश्रेष्ठ अलंकार माना। परन्तु उन्होंने अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति का पर्यायवाची नहीं माना। अतिशयोक्ति की परिभाषा देते हुए कहा-लोक मर्यादा का अतिक्रमण करने वाली युक्ति अतिशयोक्ति है। डॉ. किशन लाल हंस के अनुसार–"दण्डी काव्य का सौन्दर्य वर्णन करने वाले सभी धर्मों को अलंकार कहते हैं। तदानुसार अलंकार काव्य का शाश्वत् धर्म है। यह काव्य के दोनों रूप श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य दोनों के तत्त्वों को अलंकार के ही अन्तर्गत मानते हैं।" दण्डी ने इष्ट, सरस, मनोहर वर्णन करने के लिए अभिप्रेत अर्थ से युक्त शब्द को काव्य का शरीर तथा इष्ट अर्थ से युक्त पद समुदाय को काव्य कहा।

• **उद्भट्ट**–आचार्य दण्डी के बाद उद्भट्ट ने अलंकारों पर विचार किया। इनका समय उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का है। इनकी रचना का नाम काव्यालंकार सार संग्रह है जिसमें उन्होंने भामह और दण्डी के विचारों को समन्वित करने का प्रयास किया। उन्होंने रूपक आदि अलंकारों को वाक्य न मानकर प्रतीपमान माना। इसके साथ-साथ उन्होंने गुण तथा अलंकार दोनों को समान रूप से सौन्दर्य के हेतु स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त उद्भट्ट ने शृंगार रसों के उदय की स्पष्ट स्थिति में गुण तथा अलंकार को रसवत् अलंकार में समाहित कर दिया।

• **रूद्रट**–ये भी अलंकारवादी आचार्य थे। 'काव्यालंकार' इनकी एकमात्र रचना है। इन्होंने काव्य में अलंकारों को विशेष महत्त्व दिया और कहा कि अलंकार शब्द और अर्थ को शोभा प्रदान करने वाले तत्त्व हैं। अलंकार की परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं–**"कवि प्रतिभा से उद्भूत अभिधान या कथन विशेष का नाम अलंकार है।"** परन्तु रूद्रट ने काव्य में रस और अलंकार दोनों को समान महत्त्व प्रदान किया। रूद्रट ने अलंकार की परिभाषा देते हुए लिखा है–**अभिधान प्रकार विशेषाः एव च अलंकाराः।**

• **वामन**–वामन भले ही रीतिवादी आचार्य थे परन्तु उन्होंने काव्य में अलंकारों को भी उचित महत्त्व देने का प्रयास किया उन्होंने स्वीकार किया कि **अलंकार ही काव्य** है। उनकी रचना का नाम **काव्यालंकार सूत्रवृत्ति** है जिसमें वे लिखते हैं–

अलंकार एव काव्यम्। काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।

वामन ने अलंकार का शब्दार्थ किया है–सौन्दर्य, जो कि दोषों के त्याग तथा गुणों और अलंकारों को ग्रहण करने से उत्पन्न हो सकता है। अन्यत्र वे लिखते भी हैं–

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः तदत्तिशयहेतवस्त्वलंकारः।

अर्थात् यदि गुण काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं तो अलंकार उस शोभा की वृद्धि करते हैं। गुण और अलंकार के सन्दर्भ में वामन दण्डी के बहुत समीप हैं। दण्डी भी गुणों को अलंकारों से अलग कर चुके थे और वामन ने भी ऐसा ही किया कारण यह था कि वामन रीतिवादी आचार्य थे। भले ही वामन यह कहते हों कि बिना अलंकारों के काव्य अग्राह्य है परन्तु फिर भी उन्होंने गुणों को अलंकारों से अलग ही रखा। उदाहरण के रूप में भामह ने अलंकृत शब्द या अर्थ को काव्य माना परन्तु वामन गुण तथा अलंकार दोनों के सौन्दर्य से युक्त शब्दार्थ को काव्य मानते हैं। बिना गुण के केवल अलंकरण का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। भामह और वामन में एक अन्तर और भी है। भामह अलंकार को काव्य का नित्य धर्म मानते हैं पर वामन गुणों को नित्य धर्म मानते हैं। इस दृष्टि से वामन ने स्पष्ट किया कि काव्य में गुण तथा अलंकार दोनों का समान और समन्वित महत्त्व है। **काव्यालंकार सूत्रवृत्ति** में वे लिखते भी हैं–

पूर्वे गुणा नित्याः तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।

अलंकारवादी आचार्यों की परम्परा में कुछ और नाम भी गिनवाए जाते हैं। इनमें, प्रतिहारेन्दुराज, जयदेव तथा अप्पयदीक्षित आदि के नाम गिनवाए जा सकते हैं परन्तु इन विद्वानों के युग में ध्वनिवादी सिद्धान्त का विकास हो चुका था। इसीलिए अलंकार

को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया परन्तु इन विद्वानों ने अलंकारों का भेदोपभेद निरूपण करने का प्रयास किया। जयदेव ने तो अलंकारों का जोरदार समर्थन करते हुए कहा–

अंगीकरोति यः काव्यः शब्दार्थवनलंकृति।
कथं न मन्यतेऽसौऽनुष्णमनलंकृति।।

अर्थात् अलंकारहीन काव्य और ठण्डी अग्नि एक ही कोटि की है, जिन्हें कोई पागल ही सत्य मान सकता है।

अलंकार विरोधी संस्कृत आचार्यों का मत–भले ही भामह ने अलंकारों का प्रबल समर्थन किया हो, परन्तु कालान्तर में ध्वनिवादी, रसवादी आचार्यों ने अलंकारों के महत्त्व का खण्डन कर दिया। दण्डी ने निश्चय से अलंकारों को काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले तत्त्व कहा। परन्तु वामन ने गुणों को काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाला धर्म कहा। रीतिवादी आचार्य होने के कारण उन्होंने गुणों को काव्य का नित्य धर्म तथा अलंकारों को अनित्य धर्म कहा जिससे पता चलता है कि वे अलंकारों की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्त्व देने लगे थे क्योंकि गुणों से ही रीति का निर्माण होता है।

- **आनन्दवर्धन**–ध्वनिवादी आचार्य होने के कारण उन्होंने अलंकारों की एक नवीन परिभाषा दी और अलंकारों के महत्त्व को घटा दिया। अपनी रचना **'ध्वन्यालोक'** में उन्होंने लिखा भी है–

  अंगाश्रितास्वतलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्, चारू हेतवस्त्वलंकारः।

  अर्थात् अलंकारों की इति शरीर पर धारण किए गए कटक, कुण्डल आदि शोभाकारक आभूषणों के समान है।
- **अभिनव गुप्त**–ये भी ध्वनिवादी आचार्य थे। उन्होंने अपनी रचना **अभिनव भारती** में स्वीकार किया कि अलंकार काव्य का बाह्य पक्ष है। उनकी उपयोगिता अलंकार्य सापेक्ष है। ध्वन्यालोक लोचक में उन्होंने लिखा है कि भावरस रहित स्थल पर अलंकारों की स्थिति आभूषणों से सुसज्जित शव के समान है जो अनुपादेय और विरक्तिजनक होती है। वे कहते भी हैं–

  तथा हि अचेतनं शव-शरीर कुण्डलाद्युतेपमपि न भाति अलंकार्य स्याभावात्।
- **कुन्तक**–ये एक वक्रोक्तिवादी आचार्य थे। इन्होंने अलंकार के दो रूप स्वीकार किए–
  1. साधारण चमत्कार उत्पन्न करने वाले अलंकार, जैसे–उपमा, रूपक आदि।
  2. रसवत् अलंकार जो अत्यधिक आह्लाद प्रदान करता है। कुन्तक ने रसवत् अलंकार को सभी अलंकारों का मूल माना।
- **महीम भट्ट**–इन्होंने एक बार पुनः रस को महत्त्व देते हुए कहा कि रस अलंकार से विशिष्ट काव्य की आत्मा है। उन्होंने रस और अलंकारों को चारुत्व का हेतु माना। अभिप्राय यह है कि महीम भट्ट ने अलंकारों के महत्त्व को घटा दिया।
- **क्षमेन्द्र**–ये औचित्यवादी आचार्य थे। उन्होंने अलंकारों को शब्दार्थ रूप काव्य के आभूषण माना। उनका कथन है कि अलंकारों की स्थिति कटक, कुण्डल, केयूर, हार आदि के समान है। ये बाह्य शोभा के विधायक मात्र हैं।
- **मम्मट**–ये पूर्णतया ध्वनिवादी आचार्य थे। ध्वनि का समर्थन करते हुए उन्होंने काव्य की एक ऐसी परिभाषा दी जिसमें अलंकारों की अनिवार्यता का खण्डन किया गया था। उन्होंने अपनी रचना **'काव्य प्रकाश'** में लिखा भी है–

  "तदोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।"

  अर्थात् निर्दोष, गुण-युक्त, अलंकार-युक्त या अलंकार रहित शब्दार्थ काव्य है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने काव्य की स्थिति को सर्वथा वैकल्पिक बना दिया।
- **आचार्य विश्वनाथ**–ये भी रसवादी आचार्य थे। उन्होंने अलंकारों के महत्त्व को नकारते हुए एक नए प्रकार से अलंकारों की परिभाषा दी–

  शब्दार्थयोरस्थिराः ये धर्मोः शोभातिशायिनः।
  रसादीनामुपकुर्वन्ति अलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।।

  अर्थात् अलंकार हार आदि के समान शोभा में अतिशयता लाने वाले तथा रस के उपकारक अस्थिर धर्म हैं।
- **पंडितराज जगन्नाथ**–ये भी रसवादी आचार्य थे। इन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा माना और यह कहा कि अलंकारों से युक्त काव्य रमणीय अवश्य होता है लेकिन अलंकार मात्र साधन हैं, साध्य नहीं हो सकते।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों का मत

जहाँ तक रीतिकालीन आचार्यों का प्रश्न है, उनके कथनों में किसी प्रकार की मौलिकता दिखाई नहीं देती। कुछ आचार्य कवियों ने अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार किया लेकिन कोई नई बात नहीं की। उन्होंने संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण करते हुए उनके कथनों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर दिया। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक होगा कि कुछ रीतिकालीन आचार्य कवियों ने नवीन अलंकारों की उद्भावना अवश्य की है।

- केशवदास ने अलंकार के बिना कविता को नग्न माना है, पर निष्प्राण नहीं। वे कहते हैं–
  जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
  भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त।।
- कवि देव भी अलंकार को महत्त्व देते हुए इस प्रकार कहते हैं–
  कविता कामिनी अलंकार पहिने अद्भुत रूप लखावति।
- कवि दूलह के शब्दों में–
  बिन भूषण नहिं भूषई कविता।
- भिखारीदास ने अलंकारों को भूषण माना है–
  रस कविता को अङ्ग भूषन हैं भूषन सकल।

आधुनिक काल के हिन्दी विद्वानों का मत–

इनके मत इस प्रकार हैं–

- **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** के अनुसार–**"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया का तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।"**
- **डॉ. श्यामसुन्दर दास** के अनुसार–**"जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा को बढ़ाते हैं, उसी प्रकार अलंकार भाषा की सौन्दर्य वृद्धि करते हैं, उसके उत्कर्ष को बढ़ाते हैं, रस, भाव और आनन्द को उत्तेजित करतेहैं।"**
- **बाबू गुलाबराय** का कथन है–**"अलंकार नितान्त बाहरी नहीं जो जब चाहे पहन लिए जाएँ या उतारकर रख दिए जाएं ..... वे महात्मा कर्ण के कवच और कुण्डलों की भाँति सहज होकर ही शक्ति के द्योतक हैं।"**
- **सुमित्रानंदन पंत** कहते हैं–**"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, उसकी पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वाणी के आचार-व्यवहार और रीति-नीति हैं, पृथक् स्वरूप भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।"** अन्यत्र वे कहते भी हैं–
  तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार।
  वाणी मेरी क्या तुम्हें चाहिए अलंकार।।
- **रामधारी सिंह दिनकर** जी लिखते हैं–**"मैं अलंकारों के महत्त्व को भूल नहीं सकता। किसी प्रकार भी उनका अनादर नहीं कर सकता, क्योंकि अलंकारों ने काव्य-कौशल के बहुत से ऐसे भेद खोले हैं जो अन्यथा अति क्लिष्ट रह जाते।"**

अलंकारों का महत्त्व

भले ही परवर्ती संस्कृत आचार्यों ने अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया, परन्तु इससे अलंकारों का महत्त्व कम नहीं हो जाता। मानव आरम्भ से ही सौन्दर्य प्रेमी रहा है। सौन्दर्य के प्रति उसका आकर्षण सहज है। सौन्दर्य प्रेम ही मानव को सुरुचि सम्पन्न, सुसंस्कृत और सभ्य बनाता है। मनोविज्ञान यह भी बताता है कि भावोद्वेलन के समय मानव मुख से एक भिन्न प्रकार की वाणी निःसृत होती है। उस वाणी में विशेष प्रकार की वक्रता रहती है जो कि अलंकारों का निर्माण करती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कविता में अलंकारों का विशेष महत्त्व है। प्रमुख कारण यह है कि कविता में वर्णना का विशेष महत्त्व देखा गया है। जब भी कवि किसी कविता की रचना करता है तो उसकी रचना में अलंकारों का स्वतः प्रयोग हो जाता है। इस सन्दर्भ में भट्टतौत ने लिखा भी है–**"कवि वाल्मीकि का दर्शन नित्य और स्वच्छ था। किन्तु कविता तब तक उदित नहीं हुई, जब तक उसे वर्णना का आश्रय प्राप्त नहीं हुआ। अलंकारयुक्त कविता नीरस-से-नीरस और तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु को सरस और सारवान बना देती है।"**

रीति एवं शैली

8. रीति एवं शैली का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

अथवा

शैली से आप क्या समझते हैं? रीति एवं शैली में साम्य-वैषम्य बताइए।

उत्तर-रीति और शैली-'रीति शब्द साहित्य शास्त्र में प्राचीन सामान्य पद-रचना या रीतियों के लिए ही रूढ़ बनकर रह गया। हिन्दी और अन्य आधुनिक भाषाओं में रीति के स्थान पर 'शैली' शब्द का प्रचलन है। आजकल शैली में व्यक्तित्व और मानसिक व्यवहार पर अधिक बल दिया जाता है। यह एक संयोग ही है कि ये दोनों शब्द अपने अर्थ की सार्थकता प्रकट कर रहे हैं। रीति का अर्थ पद्धति, रिवाज, मार्ग, ढंग आदि है। इसमें परम्परा का अंश अधिक रहता है। अतः सामान्य मार्ग या सामान्य पद्धतियों के रूप में ही रीति शब्द अपनी सार्थकता प्रकट कर सकता है। दूसरी ओर शैली रीति का आधुनिक नाम मात्र नहीं है। रीति के तात्पर्य से व्यापक और नए अर्थों में शैली को स्वीकार किया गया है। रीति और शैली के बीच साम्य और अन्तराल के कई स्तर शास्त्रकारों के बीच चर्चा और विवाद के केन्द्र में है।

शैली की अवधारणा

शब्दकोशों के अनुसार शैली का अर्थ है-प्रणाली, कथन या सृजन की विशेष भंगिमा और विशिष्ट कार्यपद्धति। शैली अंग्रेजी शब्द STYLE के अनुवाद या विकल्प के तौर पर प्रचलित है। STYLE की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द 'स्टाइलस' है जिसका अर्थ है-नोकी और नुकीली कलम। इतिहास साक्षी है कि कालान्तर में 'स्टाइलस' का यह अर्थ रहा नहीं। विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया की भंगिमाओं के बीच इसका मूल अर्थ सुरक्षित नहीं रह सका और जब मूल अर्थ रहा ही नहीं तो फिर कितने ही अर्थ बनते गए। लिखने का ढंग, लिखित रचना, लेखक विशेष की अभिव्यक्ति की विशिष्टता, साहित्य रचना की रूपगत विशेषताएँ, बोलने का लहजा, रीति या प्रथा और किसी रचनाकार की रचना पद्धति विषयक विशिष्टता का युग, जाति, देश या वर्ग-विशेष के कलाकारों की रचना पद्धति विषयक वैशिष्ट्य जैसे कई अर्थ उभरते ही गए। स्पष्ट है कि जिस 'स्टाइल' शब्द का अर्थ केवल लेखनी था, वह कई अर्थों के मार्ग से गुजरता हुआ 'रचनाकार' के वैशिष्ट्य तक जा पहुँचा।

शैली शब्द ने काफी परिधि बना ली है और हमारे जीवन के कितने ही व्यावहारिक क्रिया धर्मों और तौर-तरीकों तक में प्रवेश कर गया है। यही कारण है कि आज की 'स्टाइलिश' दुनिया में हर चीज का 'स्टाइल' बन गया है। चाहे वह वस्त्र-विक्रेता या वस्त्र निर्माता हो या दर्जी हो, वकील हो, शिक्षक हो, पहलवान हो, नौकर हो, सभी के अपने-अपने काम की एक 'स्टाइल' है या बन गया है। बात यहाँ तक आ पहुँची है कि आजकल तो प्रेम करने और प्रिय-प्रिया के विरह में रोने या आँसू बहाने और आत्मीयजनों द्वारा सहानुभूति और सान्त्वना प्रदर्शित करने तक का 'स्टाइल' बन गया है। हर रोज बदलती दुनिया में 'स्टाइल' नये-से-नये रूप में सामने आ रहा है। ऐसी स्थिति में 'स्टाइल' शब्द में 'सामान्यत्व' आ गया है और वह 'पद्धति-विशेष' का ही वाचक बनकर रह गया है। हिन्दी का शैली शब्द भी इसी अर्थ का द्योतक है किन्तु अन्तर यही है कि शैली शब्द का प्रयोग साहित्यिक या कलात्मक सन्दर्भों में ही करते हैं जबकि शैली या स्टाइल दैनिक जिन्दगी में भी प्रवेश कर गया है। एक दुनिया साहित्यकारों और कलाकारों की है और दूसरी ओर जीवन-चक्र में संलग्न शेष लोगों की दुनिया है। शैली सभी स्तरों पर व्याप्त है, उपयोगी है।

साहित्यिक सन्दर्भ में वैयाकरणों के अनुसार 'शैली' शब्द 'शील' धातु से स्वार्थ में 'अङ्' प्रत्यय के योग एवं डाप् आदि [illegible] व्युत्पन्न हुआ है। स्वभाव, आचारण और प्रकृति वाचक 'शील' धातु से व्युत्पन्न यह शब्द कालप्रवाह में किस प्रकार रीति, मार्ग, पद्धति आदि का वाचक बन गया, यह शब्द विज्ञान और अर्थ विज्ञान के पृथक् रोचक शोध का विषय है। शैली की नव्य संकल्पना प्रधानतया भाषा से जुड़ी हुई है इसीलिए भाषा की विविध रूपता के विभिन्न उपकरण ही शैली के नियामक हैं। शैली का आधार भाषा है लेकिन भाषा की शैली नहीं है। शैली अभिव्यक्ति की एक पद्धति है लेकिन अभिव्यक्ति शैली नहीं है। शैली में वस्तु का समावेश होता है लेकिन वस्तु प्रस्तुति ही शैली नहीं है। शैली के सन्दर्भ में यह सोचना तनिक भी अप्रासंगिक नहीं है कि उसका सम्बन्ध रचनाकार के अन्तर्गत व्याप्त शील, भाषा के रागात्मक उपकरणों और साहित्य के सर्जनात्मक संकल्पों से हो। इसी कारण शैली ने पारिभाषिक शब्द के रूप में अनेक व्याख्याएँ ग्रहण की हैं। यह एक प्ररिभाषिक शब्द है जिसका मनमाना उपयोग होता रहा है। कभी इसका सम्बन्ध व्यक्तित्व से जोड़ा गया है तो कभी समूह से, कभी इसे सामाजिक सन्दर्भ से जोड़ा गया है तो कभी सांस्कृतिक सन्दर्भ से। किसकी शैली है अथवा किसमें शैली है, के नजरिए से 'शैली' को परिभाषित करने की परम्परा जब श्रान्त हुई तब शैली के अनेक नए पारिभाषिक प्रतिमान सामने आए। जैसे–

भोलानाथ तिवारी के अनुसार–**"शैली भाषिक अभिव्यक्ति का वह विशिष्ट ढंग है जो प्रयोक्ता के व्यक्तित्व तथा विषय से सम्बद्ध होता है तथा जो विलन, चयन, सुसंयोजन, समानान्तरता एवं अप्रस्तुत विधान आदि सामान्य अभिव्यक्ति के लिए असुलभ उपकरणों पर आधृत होता है।"** –(शैलीविज्ञान, पृष्ठ-21)

इस शृंखला में शैली की अनेक परिभाषाओं और कई तत्सम्बन्धी विचारों को एकत्र किया जा सकता है। उसके आधार पर शैली की अधोलिखित सूत्र विशेषताएँ उभरती हैं–

(1) शैली व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है।
(2) शैली विचारों का परिधान है।
(3) शैली भाषिक सम्प्रेषण का साधन है।
(4) शैली रचना में वांछित प्रभावात्मकता का उत्पादन है।
(5) शैली चिन्तन और अभिव्यक्ति की मौलिकता है।
(6) शैली भाषिक संरचना है।
(7) शैली चयनित शब्दों का विशिष्ट प्रयोग है।
(8) शैली भाषिक मानस से किया गया प्रस्थान है।
(9) शैली व्याकरण की सम्भावनाओं की दिग्दर्शक है।

शैली सर्जनात्मक आशय से सम्पृक्त अस्मिताव्यंजक अभिव्यक्ति उपस्कर है–**"आस्वाद और सम्प्रेषण के धरातल पर अपनी भाषिक संभावनाओं के कारण निरन्तर नवीन सुनियोजित संरचना।"** भाषिक अभिव्यक्ति का शैली विश्लेषण सर्जन और पाठक- आलोचक की परस्पर सम्बद्धता का परिचय देता है। बोलचाल की जो भाषा इन दोनों की वर्गों के लिए सुपरिचित तथा बोधगम्य होती है, रचनाकार उसी भाषा को अपनी निजी क्षमता, अनुभूति और अभिव्यंजक मनीषा के द्वारा माँज कर सही शब्दावली के विनियोग द्वारा संगत संरचना प्रदान करता है। रोग के शीघ्र एवं समूलनिदान के लिए सतर्क चिकित्सक जैसे सुचिन्तनपूर्वक सही औषधि का चुनाव करता है वैसे ही रचनाकार सही शैली के विनियोग द्वारा अपनी बात स्पष्टतया वैविध्यपूर्वक प्रभावशाली भंगिमा में प्रस्तुत करता है। शैली में बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक तीनों ही स्तरों पर विभिन्न गुणों या विशिष्टताओं की अपेक्षा की जाती है।

बौद्धिक गुण	भावात्मक गुण	सौन्दर्यात्मक गुण
स्पष्टता	भावना	लालित्य
बोधगम्यता	अनुभूति	लावण्य
प्रसादत्व	भावावेश	औदात्य
सरलता	संवेदना	आरोह-अवरोह
गूढ़ता	कारुणिकता	सामंजस्य

बौद्धिक गुण	भावात्मक गुण	सौन्दर्यात्मक गुण
आत्मपरकता	वाग्वैदग्ध्य	–
सजीवता	विडम्बना	–
अकाट्यता	भर्त्सना	–
ऊर्जस्विता	कटाक्ष	–
ओजस्विता	उपहास	–

बौद्धिक गुण	भावात्मक गुण	सौन्दर्यात्मक गुण
दुरूढ़ कल्पना	सत्यता	राग
दुरूहता	कृत्रिमता	प्रगीतात्मकता
गहनता	अपकर्ष	काव्यात्मकता
गुह्यता	कपट	–
निगूढ़ता	निरालापन	–
वस्तुपरकता	परिहास	–

बौद्धिक गुण	भावात्मक गुण	सौन्दर्यात्मक गु
दीप्ति	दुर्वचन	
प्रभावात्मकता	अपवादन	–
कृत्रिमता	ताड़न	–
पारम्परिकता	गर्हणा	–
शास्त्रीयता		
स्वच्छन्दता		

शैली का उल्लेख इन सब धागों से बुने हुए ऐसे जाल के रूप में किया गया है जो कि ऊँचाइयों को छूने, कथ्य को पु बनाने और अभिव्यक्ति को प्रभाव-तीव्र बनाने के लिए गठित होता है। शैली के क्षेत्र में भाषा शैलीविहीन नहीं होती ल रचनात्मक भाषा के शैलिकीय उपादान अपने सूक्ष्मतम उपादान अपने सूक्ष्मतम रूप में भी मुखर रहते हैं। वर्ण से लेकर वाक्य मुहावरों से लेकर विराम चिह्नों तक के स्वर शैली में सुनाई पड़ते हैं। इसी कारण रचना की परोसी हुई थाल का आस्वादन औत्सुक्य का उदय करता है कि व्यंजन किन तत्त्वों से बना है। इस तरह अभिव्यक्ति की सफलता और विफलता के निर्या उपादानों के समुच्च का नाम शैली है।

शैली कृति के माध्यम से कृतिकार के मंतव्य तक पहुँचने का साधन है। शैली वैज्ञानिकों ने प्रयास किया है कि कृति संरचना और गठन के माध्यम से कृतिकार को अभिचिन्हित किया जाए और भाषा केन्द्रित चिन्तन की पड़ताल की जाए। स्वभा किसी शैली का चिन्तन वस्तुपरक होता है और दृष्टि भाषावादी होती हैं। इसी कारण शैली के नियामक घटकों की सूची शिल्प और संरचना के विविध उपकरण एक साथ समाविष्ट होते हैं। अब शैली से अभिप्राय रचना विशेष के लिए स्वीकृत वि के शैल्पिक अभिव्यंजना-फलकों से ही नहीं है, अपितु सामान्य से भिन्न भाषिक कथन, चयन, प्रतिमान से विचलन, सादृश्य विलक्षणताओं और व्याकरण की अमित सम्भावनाओं से शैली का निर्माण होता है क्योंकि शैली भाषा का ही एक विशिष्ट प्रकार इस नाते शैली के तमाम उपकरण भाषागत होते हैं। भाषा की संग्राहक शक्ति और संवाहक सामर्थ्य को शैली के विविध उपक जीवित रखते हैं। शैलीय तत्त्वों की परख के बिना न रचनात्मक भाषा की अंतरंग पड़ताल सम्भव है और न शब्द मैत्री से निसृ हुई अर्थ छवियों का इन्द्रजाली प्रभाव ही लक्षित किया जा सकता है। हर रचना अपने सर्जक के अनुकूल शैलीय उपकरणों बुनी होती है और उसकी बुनावट वैचारिक नियन्त्रण और संरचनात्मक लालित्य की एकमात्र परिणति होती हैं। प्रभावपूर्ण सम्प्रे द्वारा भाषा की विन्यासधर्मी सजग संरचना के सूत्रों का संकेत शैली से होता है। कथ्य और रूप, विचार और अभिव्यक्ति का एक गंगा-जमुनी प्रयास है। निष्कर्ष यह कि शैली सबसे पहले भाषा है और अन्त में भी भाषा ही है।

न तो कोई भाषा किसी ने अकेले रची है और न कोई भाषा किसी के एकल उपयोग में आती है। भाषा समूचे परिवेश सम्पदा है और हम एक-दूसरे तक अपने मंतव्यों को पहुँचाने के लिए इसी सम्पदा के विविध उपकरणों का सहारा लेते हैं। सम का पारस्परिक सम्पर्क और जीवन का सारा कार्य-व्यापार सामान्य भाषा के सहारे चलता है।

सामान्य भाषा एक लोचदार भाषिक संकल्पना है। पद, वाक्य, ध्वनि और अर्थ की अनेकानेक परतों का उपयोग ह सामान्य भाषा-व्यवहार में होता है। इस क्रम में सामान्य भाषा की अभिव्यक्ति-क्रिया एक सुनिश्चित व्यवस्था के अधीन होती वक्ता द्वारा भेजे गए सन्देश को श्रोता सहजतापूर्वक स्वीकार करता है। सन्देश के सम्पूर्ण कथ्य के लिए एक पूर्व निश्चित मा संकेत (कोड) व्यवस्था है, जिससे विचलित होने की संभावना नहीं के बराबर होती है लेकिन सही सामान्य भाषा जन साहित्य उपादान के रूप में व्यक्त होने लगती है तब रचनात्मक भाषा का एक भव्य आलोक विकीर्ण होता है। सामान्य भाषा में उपस्थि शब्द और अर्थ के समवायों को रचनाकार अपनी प्रयोग संरचना द्वारा एक चमत्कारपूर्ण विच्छलता प्रदान करता है। स्वभा सामान्य भाषा के रचनात्मक भाषा का अलगाव वास्तुशिल्पीय संरचना के स्तर पर कम होता है, उद्देश्य के धरातल पर अधि लक्षित होता है। सामान्य भाषा और रचनात्मक भाषा का पार्थक्य स्थूलतः प्रस्तोता, प्रस्तुति और ग्रहणकर्ता का आधृत है। सामा भाषा से रचनात्मक भाषा का केन्द्रीय अलगाव नियमों से विपरीत और मनचाही अभिव्यंजना में परिलक्षित होता है। साहित्य सर्जना का लक्ष्य केवल तथ्यों की प्रस्तुति ही नहीं है। सामान्य भाषा इतनी अप्रीतिकर और आरोहावरोहरहित होती है कि उ अर्थ संकेत के सतही धरोहर के ऊपन सम्प्रेषण सम्भव नहीं होता। सामान्य भाषा को रचनात्मक भाषा का संव्यान देने की बहुवि

विशिष्टों हुई हैं। इसी तरह यथावसर रचनात्मक भाषा और सामान्य भाषा को एकरूप कर देने के प्रयास हुए हैं। सहज दैनिक व्यवहार के शब्दों के प्रयोग की संस्तुति करने वालों ने हमेशा यह तर्क दिया है कि यथार्थ के स्पन्दन से सृजनशीलता को जोड़ने का सबसे सहज मार्ग है, 'बोलचाल की भाषा का काव्यभाषा के रूप में स्वीकार', लेकिन रचनात्मक भाषा जब सामान्य भाषा की तह तथ्यों की सूची प्रस्तुत करने लगती है तो लगता है जैसे कोई सुकुमारी चौराहे पर खड़ी होकर बाजार भाव सुना रही हो। यद्यपि रचनात्मक भाषा के मूलभूत उपकरण सामान्य भाषा से ही ग्रहण किए जाते हैं तथापि ये शैलीय उपकरण रचनाकार की विशिष्ट अनुभूति तथा सम्प्रेषण-लालित्य से जुड़कर एक चमत्कारपूर्ण भाषा-संसार की सर्जना कर डालते हैं। जीवन की प्राणोर्जा से बिंधी हुई यह भाषा सूक्ष्मतम अनुभवों की तीव्रतम अभिव्यक्ति में समर्थ होती है। न कोई साहित्यिक सर्जना अपने परिवेश से अनालिंगित रहती है और न रचनात्मक भाषा सामान्य भाषा की अर्थ-छटाओं का पालन करती है।

स्पष्ट है कि सामान्य भाषा के रचनात्मक भाषा का अलगाव लक्ष्य और संकल्पना के अनेक स्तरों पर है। सबसे मोटी बात तो यह है कि सामान्य भाषा एक उच्चरित एवं सूचनात्मक भाषा हैं जबकि रचनात्मक भाषा लिखित एवं सम्प्रेषणात्मक होती है। एक निश्चित और सूचित अर्थ की सत्ता सामान्य भाषा का नियमन करती है जबकि रचनात्मक भाषा अनिश्चित अर्थ से सम्पृक्त को प्रस्तुत करती है। बोलचाल की भाषा में प्राथमिक इकाई के रूप में वाक्य को स्वीकार किया गया है जबकि रचनात्मक भाषा सुविन्यस्त शब्दक्रम द्वारा संगठित होती हैं। बोलचाल की भाषा में कदाचित वक्ता और श्रोता के आमने-सामने होने के कारण मात्र शब्द विन्यास से प्रभावोत्पादन का प्रश्न नहीं रहता है। अपनी अभिधात्मक सूचनाओं के लिए सामान्य भाषा को वाणी के अतिरिक्त हाथ, पैर, आँख आदि की चेष्टाओं का सहारा लेना पड़ता है जबकि जटिलतर सांकेतिक अभिव्यंजना के लिए भी रचनात्मक भाषा को अपने शैलीय उपकरणों के सहारे ही प्रभामण्डल का निर्माण करना पड़ता है। सामान्य भाषा का व्याकरण धर्मी संगठन तर्क को प्रोत्साहित नहीं करता जबकि भाषा की अवैयाकरणिक रचनात्मक संरचना तर्क की अनन्त यात्रा पर लगातार निकली रहती है। सामान्य भाषा व्याकरणिक नियमों को उल्लंघन नहीं करती और भाषा की पुराव्यवस्था को प्रौढ़ता प्रदान करती है जबकि रचनात्मक भाषा व्याकरण के नियमों को तोड़ती हुई भाषा की नव व्यवस्था को जन्म देती है। भाषा की यही नई व्यवस्था शैली है। शैली के कारण ही रचनात्मक भाषा का एक नए सर्जना लोक की सर्जना करती है। अपनी अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं की प्रस्तुति के लिए जिन साधनों और प्रक्रियाओं का उपयोग रचनाकार अपनी पहचान बनाने के लिए करते हैं, वह भंगिमा ही शैली है।

रीति और शैली का अन्तराल

रीति और शैली दोनों ही काव्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। कई स्तरों पर रीति को ही शैली मान लेने की परम्परा रही है। **विद्यानिवास मिश्र** ने तो 'शैली' शब्द की जगह 'रीति' को मान्यता दी है–**"उपयुक्त भाषागत सर्जनात्मक वैशिष्ट्य को बोधित करने के लिए 'शैली' का प्रयोग उतना संगत नहीं जान पड़ता। इस अर्थ में 'रीति' शब्द का प्रयोग ही उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि शुद्ध रूप से सामान्य भाषा के विशेष गुणों के आधार पर विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण करने के लिए ही 'रीति' शब्द प्रयुक्त हुआ है।"**

–(रीतिविज्ञान, पृष्ठ-14)

लेकिन आज के काव्य-चिन्तन में क्रमशः 'रीति' की जगह 'शैली' ने ले ली है क्योंकि रीति की अपेक्षा शैली का अर्थ विस्तार व्यापक है और उसमें सम्प्रेषण की तमाम दिशाओं को छूने का कौशल है। विशेषतः रचनात्मक अभिव्यक्ति में स्थिर व्यक्तित्व की वाहिका बनकर शैली अपनी पहचान बनाती है। स्पष्ट है कि शैली वह पद्धति है जो व्यक्ति का कलाकार के विचार या भाव वैशिष्ट्य, व्यक्तित्व वैशिष्ट्य, भाषा एवं प्रयोजन-वैशिष्ट्य को सघन किन्तु प्रभावकारी ढंग से अभिव्यक्त करती है। वह सर्जनात्मक पद्धति है जिसमें अभिव्यंजन का समस्त गौरव पूंजीभूत है।

रीति और शैली के बीच **साम्य-वैषम्य** की अनेक रेखाएँ लक्षित की गई हैं। जैसे–

1. रीति पद रचना की विशिष्टता है तो शैली वह अभिव्यंजना पद्धति है जिसमें वामन वाली पद रचना जनित विशिष्टता का समावेश कम रचनाकार के व्यक्तित्व से निष्पन्न विशिष्टता का समावेश अधिक है। विशिष्टता दोनों में है किन्तु एक की विशिष्टता बाह्य है या गुणों पर निर्भर है। वामन की 'विशेषों गुणात्मक' वाली बात यही है तो दूसरे की विशिष्टता का आधार रचनाकार का व्यक्तित्व, विषयजनित वैशिष्ट्य और भाषा का विशेष प्रयोग है। इनमें पहला तत्त्व ज्यादा महत्त्वपूर्ण है या कहिए सर्वाधिक महत्त्व का है किन्तु अन्य दोनों अपेक्षित नहीं है।
2. रीति और शैली दोनों ही रचना-पद्धति हैं किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर निर्विशेषता और सविशेषता को लेकर है। रीति एक ऐसी पद्धति है जो सामान्य है जबकि शैली विशिष्ट पद्धति है। सामान्य पद्धति रीति के अन्तर्गत है जबकि व्यक्ति विशेष से संबंधित पद्धति शैली है।

9. ध्वनि सिद्धांत : स्वरूप तथा स्थापनाएँ

1. ध्वनि सिद्धांत के स्वरूप और स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए। (Most Im

अथवा

ध्वनि सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

अथवा

ध्वनि से आपका क्या अभिप्राय है? ध्वनि का विकास स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

अथवा

ध्वनि की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–ध्वनि सिद्धांत–भारतीय काव्यशास्त्र में रस सिद्धान्त के बाद ध्वनि सिद्धान्त बहुचर्चित सिद्धान्त है। सर्वप्रथम प्रश्न उठता है कि आचार्य आनन्दवर्धन को ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन की आवश्यकता क्यों पड़ी। उनसे पूर्व भामह, दण्डी, उद्भ तथा रूद्रट द्वारा अलंकार सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था। वामन ने रीति सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दिया था परन्तु ये दो सिद्धान्त काव्य के बाह्य रूप ही कहे जाते थे। इन दोनों सिद्धान्तों के आधार पर भरत ने रस सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना थी। रस विभावादि की सामग्री से अनुप्राणित नाटक पर घटित होता था और प्रबन्ध काव्य पर भी घटित हो चुका था परन्तु भी हजारों पद्यात्मक और गद्यात्मक मुक्तक स्थल बच गए थे जो विभावादि की परिपक्व सामग्री के अभाव में भी चमत्कार होते थे। आचार्य आनन्दवर्धन ने रस, अलंकार और रीति सिद्धान्तों की सीमाओं को पहचानना और ध्वनि तत्त्व का प्रवर्तन किय आनन्दवर्धन से पूर्व तीन शक्तियाँ प्रचलित थीं–अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या। आनन्दवर्धन ने व्यंजना वृत्ति को आधार बनाक व्यंग्यात को स्वीकार करते हुए ध्वनि तत्त्व की प्रतिष्ठा स्थापित की। यही नहीं, आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्यत्माकता के प्रश्न ही दृष्टिपात किया और उन्हें यह प्रतीत हुआ कि अलंकार तथा रीति कदापि काव्यात्मा नहीं हो सकते। उन्होंने ध्वनि की मौलि उद्भावना करके काव्य के अन्तः तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या की। ध्वनि सिद्धान्त की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रामसा त्रिपाठी ने लिखा भी है–

"यह वह सिद्धान्त है, जिसने एक ओर परम्परागत सिद्धान्तों की परीक्षा कर यह निर्णय करने की चेष्टा की कि विभि काव्य सिद्धान्तों का काव्य में स्थान क्या है तथा उनका उपयोग काव्य में किस प्रकार किया जाना चाहिए, दूसरी ओर यह भी निर्ण करने की चेष्टा की है कि काव्य का मूल तत्त्व क्या है तथा उसकी दृष्टि से विभिन्न काव्य सिद्धान्तों को किस प्रकार व्यवस्थापि किया जा सकता है।" आनन्दवर्धन ने अपनी रचना ध्वन्यालोक में ध्वनि के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए विस्तृत चर्चा की।

(i) आनन्दवर्धन ने रस, अलंकार, रीति आदि सिद्धान्तों का सम्यक् अध्ययन किया।

(ii) काव्यशास्त्र में इन सिद्धान्तों के स्थान को निर्धारित किया।

(iii) परम्परागत सिद्धान्तों के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए काव्य में ध्वनि के महत्त्व की स्थापना की और स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में ध्वनि सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की।

(iv) अन्य सिद्धान्तों की ध्वनि सिद्धान्त के साथ तुलना की।

(v) ध्वनि को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिए ध्वनि विरोधी आचार्यों प्रतिहारेन्द्रराज, कुन्तक, भट्टनायक, महिम भट्ट तथा धनंजय आदि आचार्यों के मतों का खण्डन किया।

ध्वनि का अर्थ एवं स्वरूप–

काव्यशास्त्रों में ध्वनि शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है–

1. व्यंजना-शक्ति
2. व्यंजक शब्द
3. व्यंजक अर्थ
4. व्यंग्यार्थ
5. व्यंग्यार्थ प्रधान काव्य।

आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यंग्यार्थ को ही काव्यात्मा स्वीकार किया। एक स्थल पर वे कहते हैं–

काव्यस्यात्मा ध्वनिरीति बुधैर्यः समान्नातपूर्वः।
तस्याभावं जगदुरपरे यावतामाहुस्तमन्ये।।

अर्थात् मुझसे बहुत पहले आचार्यों ने ध्वनि को काव्यात्मा माना, लेकिन ध्वनि क्या है इस पर उन्होंने प्रकाश नहीं डाला। वे ध्वनि पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—**"जो ध्वनित होता है, या ध्वनित करता है वह व्यंजक शब्द और अर्थ की आत्मा है।"**

ध्वनितः सः व्यजंकः शब्दः ध्वनि, ध्वनित ध्वनयति वा यः सः व्यंजकोऽर्थो ध्वनिः।

प्रायः आम वक्ता शब्दों द्वारा ही अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है। कवि भी ऐसा ही करता है परन्तु कवि द्वारा रचित काव्य रचना में एक रमणीयता होती है क्योंकि उसके शब्दों के पीछे एक अन्य अर्थ विद्यमान होता है। वही अर्थ अपनी रमणीयता के कारण रसिक के मन में आनन्द उत्पन्न करता है। हम यह भी कह सकते हैं कि जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को और शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर एक नवीन शब्द की रचना करते हैं, उसे ध्वनि की संज्ञा दी जाती है।

व्युत्पत्तिगत अर्थ

अनेक प्रकार से ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति की गई है—

1. **"ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः"** अर्थात् जिससे ध्वनन होता है, वह ध्वनि है यहाँ 'जिससे' शब्द शब्द-शक्ति संज्ञा के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। शब्द-शक्ति का अर्थ है—शब्द-शक्ति का वह रूप जिसके द्वारा अन्य अर्थ व्यंजित होता है। एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार होता है, वह ध्वनि है—

'ध्वन्यते इति ध्वनि ध्वनिः' इसके अनुसार जो ध्वनित होता है, वह ध्वनि है।

एक अन्य व्युत्पत्ति है—ध्वननम् धविनः।

इसके अनुसार ध्वनित होना ही ध्वनि है परन्तु ध्वनित होना तो ध्वनि का कार्य है फिर वह स्वयं ध्वनि कैसे हो सकती है। एक अन्य व्युत्पत्ति है—**ध्वन्यत् इति ध्वनिः**। इसके अनुसार जो ध्वनित हो, वही ध्वनि है। ध्वनि की एक अन्य परिभाषा है—"ध्वन्यत् अस्मिन्निति: ध्वनिः।" इसके अनुसार जिसमें ध्वनित हो, वह ध्वनि है। यहाँ परिभाषा देने वाला यह कहना चाहता है कि जिससे काव्यांग, वस्तु, रस आदि ध्वनित होता है, वह ध्वनि है। साहित्य दर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ का कहना है—

'वाच्यातिशयी व्यंग्य ही ध्वनि है और इस ध्वनि से युक्त काव्य ही उत्तम काव्य (ध्वनि काव्य है) है।' आचार्य विश्वनाथ ने इस श्लोकार्थ की व्याख्या करते हुए लिखा है—"वाच्याधिक चमत्कारिणि व्यंग्यार्थ ध्वन्यतेऽस्मिन्निति, व्यत्पत्या ध्वनिर्नामोत्तम् काव्यम्।" इस व्याख्या से स्पष्ट है कि ध्वनि संज्ञक काव्य, जिसे सर्वोत्तम काव्य कहा गया है, वह जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य रूप अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना होगा कि वाच्यार्थ और प्रतीयामानार्थ दो प्रकार के अर्थ माने गए हैं। वाच्यार्थ के अन्तर्गत अलंकार, रीति आदि की चर्चा की जाती है और प्रतीपमानार्थ का संबंध ध्वनि से है। आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा भी है—प्रतीपमान कुछ और ही वस्तु है, जिस प्रकार रमणियों के प्रसिद्ध अवयवों (मुख, नेत्र, नाक) आदि से भिन्न उनके लावण्य के सदृश महाकवियों की वाणी में भाषित होती है—

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वास्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनामु।।"

उनके कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार रमणियों का सौन्दर्य उनके अंग-प्रत्ययों से भाषित होने पर भी उनसे अलग प्रकार का होता है, उसी प्रकार प्रतीपमान अर्थ भी काव्य में उसके अंगों से पृथक् अपना अस्तित्त्व रखता है।

ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना

सर्वप्रथम आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि वाच्यातिशयि व्यंग्य ही ध्वनि है और इस ध्वनि से युक्त काव्य को ही उत्तम काव्य कहा गया है परन्तु आचार्य विश्वनाथ ही ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक हैं। उन्होंने अपनी रचना ध्वन्यालोक में इस प्रकार से ध्वनि शब्द की व्याख्या की है—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थो।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः सः ध्वनिरीति सूरिभिः कथितः।।"

अर्थात् जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को अथवा अभिधेयार्थ को गौण बनाकर प्रतीपमान अर्थ को व्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वान् ध्वनि कहते हैं। तमर्थम् से आचार्य आनन्दवर्धन का अभिप्राय है—प्रतीपमानार्थ। उन्होंने व्यक्ताः में द्विवचन का प्रयोग किया है। यह व्यंग्यात की अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ दोनों का प्रयोग बताने के लिए किया गया है। इस प्रकार व्यजंना के दो प्रकार हो जाते हैं—शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना। उपर्युक्त परिभाषा में शब्द और अर्थ दोनों ही ध्वनन का कार्य करते

अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनन है और आनन्दवर्धन ने इन ध्वनन को ही ध्वनि की संज्ञा दी है। आनन्दवर्धन की रचना ध्वन्यलोक में कुल चार उद्योत अर्थात् अध्याय हैं। इनमें कुल 121 कारिकाएँ हैं—प्रथम उद्योत में आचार्य ने सर्वप्रथम ध्वनि विरोधी मतों का खण्डन किया है। तत्पश्चात् ध्वनि का निरूपण, ध्वनि सिद्धान्त की पृष्ठभूमि, रस, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ, ध्वनि काव्य आदि पर प्रकाश डाला है। द्वितीय उद्योत में ध्वनि के भेदों की चर्चा की गई है। तृतीय उद्योत में व्यंग्य का रस संघटना के अन्य काव्यांगों से संबंध, रस विरोधी तत्त्व तथा रस आदि पर चर्चा की गई है। चौथे उद्योत में ध्वनि के महत्त्व तथा उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है।

अभिनव गुप्त

ये ध्वनि सिद्धान्त के दूसरे महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं। इन्होंने ध्वन्यालोक में **'ध्वन्यालोक लोचन'** नामक टीका लिखी जिसमें ध्वनि सिद्धान्त का प्रभावशाली तथा स्पष्ट विवेचन देखा जा सकता है। आज लोचन नामक टीका को एक स्वतन्त्र ग्रंथ का महत्त्व मिल चुका है। इन्होंने न केवल आनन्दवर्धन के ध्वनि संबंधी सिद्धान्तों और व्याख्याओं का विवेचन किया, बल्कि रस उन्मेष में ध्वनि का सिद्धान्त भी निर्धारित किया। इसके साथ-साथ उन्होंने ध्वनि और रस की एकात्मकता पर भी प्रकाश डाला। यदि गहराई से देखा जाए तो ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में आनन्दवर्धन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका कथन था कि ध्वनिवादियों की व्यंजना शक्ति ही अभिव्यक्ति के रहस्य को स्पष्ट कर सकती है क्योंकि, रस, भाव आदि का बोध व्यंग्य रूप में ही होता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में ध्वनि के तीन रूपों की चर्चा की—

(क) वस्तु ध्वनि (ख) अलंकार ध्वनि (ग) रस ध्वनि

साथ ही उन्होंने यह घोषणा की कि काव्य रस के द्वारा ही जीवित रहता है।

उनका विचार था कि रस के बिना काव्य, काव्य नहीं कहलाता। ध्वनि के प्रथम दो रूप अर्थात् वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि रस ध्वनि की ही प्रतीति कराते हैं। इसीलिए रस और ध्वनि के सिद्धान्तों में कोई विशेष विरोध नहीं है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। अभिनव गुप्त की तीन बातें उल्लेखनीय हैं—

(क) उन्होंने रस को व्यंजित माना है।

(ख) अभिव्यंजना के कारण ही ध्वनि और रस में अटूट संबंध स्थापित होता है।

(ग) रसात्मक सौन्दर्य ही ध्वनि है।

आगे चलकर राजशेखर, भोजराज, मम्मट, वागभट्ट, जयदेव, विद्याधर आदि आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त का ही समर्थन किया।

- **आचार्य मम्मट**—ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन करने वाले आचार्यों में मम्मट का नाम महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी रचना काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के भेदों की विस्तृत व्याख्या के साथ ही पाँचवें उल्लास में ध्वनि विरोधी मतों का खण्डन किया। इनकी प्रमुख देन यह है कि इन्होंने व्यंजना की स्वतन्त्र शक्ति के रूप में स्थापना की।
- **रुय्यक और हेमचन्द्र**—रुय्यक बारहवीं शताब्दी के काव्यशास्त्री थे। इनकी रचना का नाम है—अलंकार सर्वस्व जिसमें उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के ध्वनि से संबंधित मतों का विवेचन करते हुए ध्वनि सिद्धान्त के महत्त्व पर प्रकाश डाला।
- **कुन्तक**—ये भी ध्वनिवादी आचार्य थे। इन्होंने ध्वनिविरोधी आचार्य और वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनकी रचना का नाम है—"वक्रोक्ति जीवितम्" जिसमें उन्होंने ध्वनि के मतों का उल्लेख करते हुए उनका खण्डन किया। यही नहीं उन्होंने व्यंजना के स्थान पर अभिधा को अधिक महत्त्व दिया, साथ ही अभिधा में लक्षणा और व्यंजना को भी समाविष्ट कर दिया। यही नहीं उन्होंने ध्वनि को वक्रोक्ति का रूप माना।
- **धनंजय**—ध्वनि विरोधी आचार्य होने के कारण उन्होंने रसाभिव्यक्ति में व्यंजना शक्ति को महत्त्व न देते हुए तात्पर्य शक्ति को महत्त्व दिया।
- **महिमभट्ट**—ये अन्तिम ध्वनि विरोधी आचार्य थे। इनकी रचना का नाम है—व्यक्ति विवेक जिसमें इन्होंने ध्वनि को 'अनुमान' के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयास किया परन्तु इनका चिंतन न केवल तर्कसंगत है बल्कि मौलिक भी है।

रीतिकालीन आचार्यों का मत–

रीतिकालीन आचार्य कवियों ने भी ध्वनि सिद्धान्त के बारे में अपने मत व्यक्त किए हैं। इन सभी आचार्य कवियों पर संस्कृत के कवियों का प्रभाव देखा जा सकता है। इनमें से किसी में भी मौलिकता देखने को नहीं मिलती।

- **चिन्तामणि त्रिपाठी**–इन्होंने ध्वनि के बारे में विस्तारपूर्वक चिन्तन किया और ध्वनि काव्य को सर्वोत्तम माना। यही नहीं, इन्होंने ध्वनि के विभिन्न भेदों पर भी चिंतन किया। एक स्थल पर वे लिखते भी हैं–

  "प्रतिशब्दाकृत लब्धक्रम व्यंग्य सु त्रिविध बखानि।
  शब्द, अर्थ जुग सक्ति भव इति ध्वनि भेद सुजानि।।"

- **कुलपति मिश्र**–इनकी रचना का नाम रस रहस्य है और ये आचार्य मम्मट से अत्यधिक प्रभावित रहे हैं। अतः हेमचन्द्र ने अपनी रचना 'शब्दानुशासन' में अभिनव गुप्त के मत का समर्थन किया।

ध्वनि विरोधी आचार्यों के मत–आनन्दवर्धन से पूर्व काल में भी ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन होता रहा। फलस्वरूप आचार्य आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम ध्वनि विरोधी मतों का खण्डन किया, तत्पश्चात् ध्वनि सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया लेकिन फिर भी ध्वनि विरोधी आलोचनाओं की समाप्ति नहीं हुई।

- **मुकुलभट्ट**–इनका समय आनन्दवर्धन के काल का है। इनकी रचना है **'अभिधावृत्तिमात्रिका'**। इसमें इन्होंने ध्वनि का कोई स्वतंत्र अस्तित्त्व माना ही नहीं, बल्कि इसे लक्षणा के अन्तर्गत ही समाहित कर लिया।
- **प्रतिहारेन्द्रराज**–ये मुकुट भट्ट के शिष्य और अलंकारवादी आचार्य थे। इसीलिए उन्होंने ध्वनि को अलंकार के अन्तर्गत समाहित कर लिया।
- **भट्टनायक**–ये ध्वनि सिद्धान्त के प्रबल विरोधी माने जाते हैं। इनका ग्रंथ 'हृदयदर्पण' अप्राप्य नहीं है। इस ग्रंथ को ध्वनि विध्वसंक भी कहा गया है। अभिनव गुप्त ने ही इनके ग्रंथ से कुछ उदाहरण लेकर इनके दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला है। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्टनायक ने ध्वन्यालोक के दृष्टिकोण का खण्डन करने के लिए ही हृदयदर्पण की रचना की थी। दूसरी ओर अभिनव गुप्त ध्वनिवादी आचार्य थे। अतः उन्होंने तर्कसंगत कथनों के द्वारा भट्टनायक के विचारों का खण्डन कर दिया।

  उनकी रचना काव्य प्रकाश को आधार बनाकर इन्होंने ध्वनि के बारे में विचार किया। यही नहीं उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना और अलंकार को ध्वनि की सिद्धि का साधन माना। इस प्रकार ध्वनि के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहते भी हैं–

  व्यंग जीव ताको कहत शब्द अर्थ है देह।
  गुण-गुण भूषण भूषणों दूषण-दूषण रह।।

- **भिखारीदास**–इन्होंने अपनी रचना काव्य निर्णय में ध्वनि का सांगोपांग वर्णन किया। आचार्य मम्मट से प्रभावित होकर इन्होंने ध्वनि के भेदों को गिनवाया। ध्वनि की परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं–

  "वाच्य अरथ ते व्यंग में चमत्कार अधिकार।
  धुनि ताहि को कहत है उत्तम काव्य विचार।।"

- **प्रताप साहि**–अपनी रचना काव्य विलास में प्रताप साहि ने 118 छन्दों में ध्वनि की विस्तृत व्याख्या की है। इन्होंने भी ध्वनि के भेदों की चर्चा की है और ध्वनि को परिभाषित करते हुए लिखा है–

  "वाच्य अपेक्षा अरथ को व्यंग चमत्कृत होइ।
  शब्द अर्थ में प्रकट जो धुनि कहियत है सोइ।।"

◆◆◆

ध्वनि के भेद

2. ध्वनि भेदों का वर्गीकरण कीजिए।

अथवा

ध्वनि का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके भेदों का विवेचन कीजिए।

अथवा

ध्वनि काव्य के भेद-प्रभेदों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–ध्वनि काव्य और उसके भेद–जहाँ अर्थ स्वयं को तथा अपने वाच्य को गौण करके उस (व्यंग्यरूप) विशेष अर्थ को व्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है–

यत्रार्थैः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थो।
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः।। –(ध्वन्यालोक. 1.13)

आनन्दवर्धन की तरह मम्मट के ध्वनि काव्य का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है–

काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द का अर्थ है–**"व्यंग्यार्थ प्रधान शब्दार्थ युगल रूप काव्य।"** जिस काव्य में वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ अधिक चमत्कारी होता है वह ध्वनिकाव्य हाता है। मम्मट ने ध्वनि काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है–

इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्यार्थ ध्वनिबुधैः कथितः। –(काव्यप्रकाश 1.4)

अर्थात् काव्य में जब वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ का अधिक चमत्कार होता है तो उसे उत्तम काव्य कहते हैं। इसे और भी आसान शब्दों में ध्वनि को इस प्रकार समझा जा सकता है–ध्वनि उस व्यंग्यार्थ को कहते हैं जो वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण हो। अर्थात् ऐसी कविता जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट अथवा प्रभावशाली होता है, ध्वनि काव्य कहलाता है और उसे ही उत्तम काव्य माना जाता है।

आचार्यों द्वारा ध्वनि काव्य के विभिन्न भेद स्वीकार किए गए हैं। विवेचन निम्नवत् है–

- **आनन्दवर्धन का मत**–आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वनि को **काव्य की आत्मा** स्वीकार किया है। व्यंजना को ध्वनि का आधारभूत तत्त्व मानते हुए–व्यंजना के मूल में अभिधा और लक्षणा शब्द शक्तियाँ हैं–इस आधार पर उन्होंने ध्वनि के दो भेद किए हैं–**(i) अविवक्षित वाच्य ध्वनि अर्थात् लक्षणामूला ध्वनि। (ii) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अर्थात् अभिधामूला ध्वनि।**
- **आचार्य अभिनव गुप्त का मत**–आचार्य अभिनव गुप्त मूलरूप से रसवादी आचार्य थे। अतः रस की सम्यक् पुष्टि के लिए उन्होंने ध्वनि को महत्त्व प्रदान किया और सिद्ध किया कि रस वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। उन्होंने काव्य में रसध्वनि को महत्त्व न देते हुए वस्तु ध्वनि और अलंकारध्वनि के रूप में स्वीकार किया है।
- **आचार्य मम्मट का मत**–आचार्य मम्मट ने ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन करते हुए काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। इसमें उन्होंने ध्वनि को आधार बनाकर काव्य के तीन भेद किए–(i) ध्वनि काव्य, (ii) गुणीभूत काव्य तथा (iii) चित्रकाव्य।

  ध्वनि काव्य – ध्वनि काव्य में वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ होता है।
  गुणीभूत काव्य – वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गौण या कम चमत्कारक होता है।
  चित्रकाव्य – जहाँ पर व्यंग्यार्थ नहीं होता है, वहाँ काव्य चित्रकाव्य होता है।
- **पण्डितराज जगन्नाथ का मत**–पण्डितराज जगन्नाथ को ध्वनि सिद्धान्त के अन्तिम समर्थक के रूप में माना जाता है। उन्होंने **'रसगंगाधर'** नामक काव्य में ध्वनि के आधार पर काव्य के तीन भेदों के स्थान पर चार भेद बताये हैं–(i) उत्तमोत्तम, (ii) उत्तम, (iii) मध्यम तथा (iv) अवर।

  उत्तमोत्तम – ध्वनि काव्य
  उत्तम – गुणीभूत व्यंग्य
  मध्यम – अन्य अर्थालंकार काव्य
  अवर – शब्दालंकार चित्रकाव्य

वैसे तो ध्वनि के वस्तु, अलंकार और रस आदि तीन मुख्य भेद किए गए हैं लेकिन काव्यशास्त्र में इनको दो मुख्य भेदों के अन्तर्गत समाहित किया गया है। ये दो मुख्य भेद हैं–(क) अविवक्षित वाच्य ध्वनि अर्थात् लक्षणामूला ध्वनि और (ख) विविक्षितान्य परवाच्य ध्वनि अर्थात् अभिधामूला ध्वनि।

ध्वनि के भेदों को और भी आसान तरीके से इस वर्गीकरण के माध्यम से समझा जा सकता है–

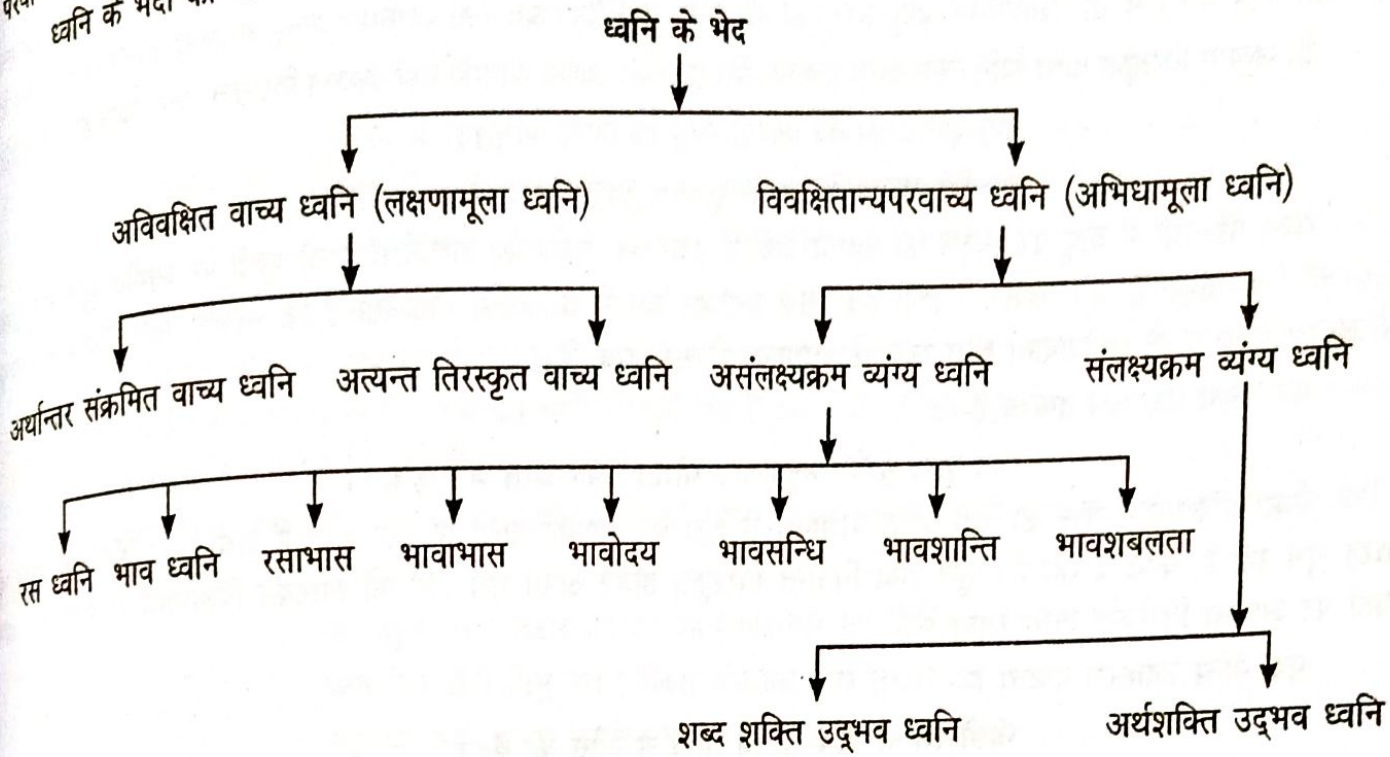

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के दो भेद निरूपित किए हैं–

(क) अविवक्षित वाच्य ध्वनि अथवा लक्षणामूला ध्वनि

लक्षणामूला अविवक्षित वाच्य ध्वनि है। **"अविवक्षितः वाच्यः मूख्यार्थ यत्र सः"** अर्थात् जिसमें वाच्य अर्थ की विवक्षा नहीं होती। मुख्य वाच्य अर्थ के बाधित होने से इसमें लक्ष्य अर्थ विवक्षित होता है, अतः इसको लक्षणामूला भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ से वक्ता के कहने का तात्पर्य नहीं जाना जाता। इससे इसमें वाच्यार्थ का बाधित होना या उसका अनुपयुक्त होना निश्चित है। जैसे किसी ने कहा कि–**"वह कुम्भकर्ण है।"** इस वाक्य में केवल यही समझा जाएगा कि उसके कान घड़े के समान हैं या वह लंका का राजा रावण का भाई है। किन्तु यहाँ मुख्यार्थ बाधित हुआ। क्योंकि वह व्यक्ति न तो रावण का भाई है और नहीं उसे कान घड़े के समान है। यहाँ मुख्यार्थ बाधित होने पर लक्षणा शक्ति का आश्रय लिया गया और उससे अर्थ निकला 'निद्रालु' अर्थात् वह व्यक्ति निद्रालु है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद हैं–(1) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि तथा (2) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

1. अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि–जहाँ मुख्यार्थ का बोध होने पर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षण द्वारा अपने अर्थ से संक्रमित हो जाए या बदल जाए वहाँ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है। इस पदगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। उदाहरणार्थ–

सीता हरन तात जनि, कहेउ पिता सन जाय।
जो मैं राम तौ कुल सहित कहिहि दसानन आइ।।

उक्त पंक्तियों में 'राम' शब्द का अर्थ केवल 'राम' नामक व्यक्ति नहीं वरन् वह पराक्रमी 'राम' है। जिसने शिवधनुष तो तोड़ा है अर्थात् वे दशरथ पुत्र 'राम' हैं। इस प्रकार 'राम' पद अपने वाच्य की स्थिति बनाए रखकर भी अर्थान्तर विशेष के कारण संक्रमित हो रहा है। अतः इसमें अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि है।

एक अन्य उदाहरण में देखिए–

लंका में एक था विभीषण भारत में बहुतेरे।
कैसे नेता कुछ कर लेंगे मिलकर आज घनेरे।।

उक्त पंक्तियों में वाच्यार्थ तो यही है कि लंका में एक ही विभीषण था, परन्तु भारत में बहुत विभीषण हैं। किन्तु वाच्यार्थ से पद्य का वास्तविक अर्थ प्रकट नहीं होता क्योंकि विभीषण का मुख्यार्थ है–रावण का भाई। परन्तु भारत में रावण एक भी भाई नहीं, बहुतेरों की बात तो दूर। इस प्रकार विभीषण शब्द के मुख्यार्थ का बोध होने के पद्य का अभिप्राय नहीं जा सकता। अतः यहाँ लक्ष्यार्थ के द्वारा यह ज्ञात हुआ जिस तरह विभीषण घर का भेदिया, मातृद्वेषी, देशद्रोही तथा शत्रु-सहा था। उसी तरह भारत में भी देशद्रोहियों, शत्रु-सहायकों की कमी नहीं है। अतः यहाँ विभीषण शब्द अर्थान्तर संक्रमित कर गया

2. अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि–जहाँ वाच्य पूर्णतया तिरस्कृत एवं त्याज्य होता है, वहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि होता है।

बापू तूम हो मानव अथवा विभु हो विमल विभूत।
चक्रकेतु भारत के रथ के सूत्रधार स्वदूत।।

उक्त पंक्तियों में बापू पर स्वदूत का अपना अर्थ छोड़कर उस पुरुष का अर्थ देता है जो पृथ्वी पर स्वर्गीय सुख का संदेश करने के लिए आया है अतः लक्षण लक्षणा है। इससे प्रयोजन रूप में यह व्यंग्य निकलता है कि महात्मा गाँधी विश्व को स्वर्ग के सदृश्य कल्याण के सन्देशदाता तथा सत्य के साम्राज्य के संस्थापक हैं।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है–

बाउ कृपा मुरति अनुकूला। बोलत वचन झरत जनु फूला।।

उक्त पंक्तियों में फूल का अर्थ काकु वैशिष्ट्य से शूल है। आपकी वाणी से फूल झड़ते हैं अर्थात् आपकी वाणी शूल की तरह चुभ रही है, कष्ट दे रही है। फूल शब्द नितान्त तिरस्कृत होकर अपने मूल अर्थ को त्यागकर विलोमार्थी हो गया है। अतः यहाँ पर अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है–

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू की बूँद।
हृदय-सुधानिधि से निकले हो सब न तुम्हें पहचान सके।। –(प्रसाद)

उक्त पंक्तियों में नीलोत्पल के बीच में मोती के सदृश आँसू सजे हैं। इस अर्थ में बाधा स्पष्ट है किन्तु आँसू के सहयोग नीलोत्पलों में अध्वनित उपमेय नयनों का शीघ्र बोध हो जाता है। नीलोत्पल में अपना अर्थ छोड़कर आँख का अर्थ देने से लक्षण-लक्षणा है। यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य से यह ध्वनि निकलती है कि नयन बड़े ही सुन्दर है और दर्शनीय हैं अतः यहाँ नीलोत्पल में तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

(ख) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि अर्थात् अभिधामूला ध्वनि

अभिधामूलक ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं।

विवक्षितम् अन्यपरं व्यंग्यनिष्ठं च वाच्यं चत्रसः।

अर्थात् जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित होने पर भी व्यंग्य के प्रति निष्ठ होता है, वह विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि है। इसमें वाच्यार्थ का न तो दूसरे अर्थ में संक्रमण होता है और न सर्वथा तिरस्कार बल्कि वह विवक्षित रहता है। कहने का तात्पर्य है कि वाच्यार्थ अन्य अर्थ के अस्तित्व को रखते हुए अपना अस्तित्व नहीं खोता बल्कि व्यंग्यार्थ का तभी बोध होता है जब वाच्यार्थ का बोध होता है। इस वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ बोध के मध्य का क्रम कहीं लक्षित होता है कहीं अलक्षित।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद हैं–(1) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि तथा (2) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि।

1. असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि–जहाँ व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित नहीं होता वहाँ असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। कहने का तात्पर्य है कि जिसमें हम 'पहले और बाद में' का अनुभव नहीं करते कि यह वाच्यार्थ है और उसके पश्चात् यह व्यंग्यार्थ है वहीं पर असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके आठ भेद माने गए हैं, जो इस प्रकार हैं–

(i) रस ध्वनि–विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव इन तीनों की अभिव्यक्ति रस ध्वनि कहलाती है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए–

पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन पग अवनि कठोरा।।
जिवन मूरि जिमि जोगवत रहेऊँ। दीप बाति नहीं टारन कहेऊँ।।
सो बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डेराती।।
सो सिय भवन रहै कह अंबा। मो कहँ होय बहुत अवलंबा।।

उक्त पंक्तियों में नवोढ़ा सीता आलम्बन रूप विभाव है। उनकी सुकुमारता, अल्पवयस्कता, स्निग्धता आदि उद्दीपन विभाव है। पुत्र वियोग के साथ वधू वियोग की आशंका से कौशल्या की विवर्णता, उच्छ्वास, दीन वचन, रोदन, दैव-निन्दा आदि अनुभाव हैं। चिन्ता, मोह, ग्लानि, दैन्य आदि संचारी भाव हैं। प्रिय के अनिष्ट के कारण 'शोक' है। इस प्रकार यहाँ करुण रस की अभिव्यक्ति है।

एक अन्य उदाहरण में शृंगार रस की छटा है–

आये विदेश से प्रानप्रिय, मतिराम अनन्द बढ़ाय अलेखै।
लोगन से मिलि आँगन बैठि, धरी-सी-घटी सिगरी घर पेखै।।
भीतर मौन के द्वार खरी, सुकुमारी तिया तन काम विसेखै।
घूँघट को पट ओट दिये, पट ओर किये पिये को मुँह देखै।। –(मतिराम)

उक्त पंक्तियों में नायिका का पति परदेश से घर आया है। नायिका घूँघट से अपने मुँह को छिपाकर कपड़े की ओट में से पति का मुख देख रही है। इस आचरण से नायिका का नायक के प्रति प्रेमभाव प्रकट हो रहा है। यहाँ शृंगार रस है। रति नामक स्थायी भाव है। यहाँ व्यंग्यार्थ यह है कि दोनों के अकाट्य प्रेम है। यहाँ सहृदय को काव्यानन्द (रस ध्वनि) की प्रतीति होती है।

(ii) **भाव ध्वनि**–जहाँ रति, हास, उत्साह आदि अपुष्ट स्थायी भाव हो अथवा संचारी भाव का प्राधान्य होता है, वहाँ भाव ध्वनि होती है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए–

कर कुठार में अकरुन कोही। आगे अपराधी गए द्रोही।
उतर देत छाँड़ौं बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे।
नतु यह काटि कुठार कठोरे। गुरुहि उरिन होतेऊँ श्रम थोरे।।

उक्त पंक्तियों में आलम्बन, अनुभाव, संचारी भाव के रहते हुए भी विश्वामित्र के शील के कारण क्रोध नामक स्थायी भाव नाम मात्र को रह गया है; उद्दीप्त होकर पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त नहीं हुआ है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है–

सहे वार पर वार अन्त तक
लड़ी वीर बाला-सी।
आहुति-सी गिर चढ़ी चिता पर,
चमक उठी ज्वाला-सी। –(सुभद्रा कुमारी चौहान)

उक्त पंक्तियों में केवल उद्बुद्ध मात्र उत्साह नामक स्थायी भाव है।

(iii) **रसाभास**–जहाँ पर रस अथवा भाव की व्यंजना में किसी कारणवश अनौचित्य झलकने लगे वहाँ पर रसाभास होता है। जैसे–नायिका का उपनायक प्रेम अथवा नायक प्रेम, एकांगी प्रेम, पशुपक्षी आदि का प्रेम वर्णन। निम्नलिखित उदाहरण देखिए–

उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जँह तँह गाल बजावन लागे।
लेहु छुड़ाय सीय कह कोऊ। धरि बाँधो नृप बालक दोऊ।।
तोरे धुनष काज नहिं सरई। जीवत हमहि कुँवरि को बरई।
जौ विदेह कछु करहि सहाई। जीतहु समर सहित दोऊ भाई।।

उक्त पंक्तियों में धनुष को न उठा सकने वाले पराजित राजाओं का राम के प्रति युद्ध करने का उत्साह अनुचित है तथा यहाँ पर रसाभास है।

(iv) **भावाभास**–जहाँ पर भाव में कोई अनौचित्य झलकने लगे, वहाँ पर भावाभास माना जाता हैं। निम्नलिखित उदाहरण देखिए–

दरपन में निज छाँह सँग लखि प्रियतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अखियन माँह।।

उक्त पंक्तियों में क्रोध का भाव व्यर्थ ही आने से भावाभास है।

(v) भावोदय–जहाँ पर एक भाव के उदय होने में आकर्षण हो, वहाँ भावोदय होता है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए–

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैननु हीं सब बात।।

–(बिहारी)

उक्त पंक्तियों में नायक का रूठना, मनाना, खीजना आदि उत्कण्ठाओं का चमत्कारपूर्ण वर्णन होने से भावोदय है।

(vi) भावसन्धि–जहाँ पर दो भावों के मिश्रण के कारण चमत्कार पैदा हो वहाँ पर भाव सन्धि होती है। उदाहरणार्थ–

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुरचित प्रीत।
परति गाँठ दुरजन-हिये, दई, नई यह रीति।।

यहाँ पर नेत्र का जुड़ना, कुटुम्ब का टूटना इन दो भावों के कारण भाव सन्धि है।

एक अन्य उदाहरण देखिए–

पिय बिछुरन को दुसह, दुख हरष जात प्यौसार।
दुरजोधन लौं देखियत, तजत प्रान यहि बार।।

उक्त पंक्तियों में सुख और दुःख, हर्ष और विरह दोनों ही भावों की सन्धि से चमत्कार है।

(vii) भावशान्ति–एक भाव के उदित होने के पश्चात् शान्त हो जाने पर भावशक्ति होती है। उदाहरणार्थ–

अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,
सवेग आते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुन्द को।।

उक्त पंक्तियों में उद्धव को आता देखकर ब्रजवासियों के हर्ष के भाव (कृष्ण को न देखकर) विषाद भाव में परिवर्तित हो जाते हैं। यहाँ पर भावशान्ति है।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है–

सोवत लखि मनु मानु धरि ढिंग सोयो प्यौ आइ।
रही सुपन की मिलनि मिलि तिय हिय सौ लिपटाइ।।

उक्त प्रसंग में अमर्ष भाव की शान्ति ध्वनित हो रही है क्योंकि नायिका के नायक के हृदय से लिपट जाने का वर्णन शृंगार रस में परिणत हो रहा है।

(viii) भाव शबलता–दो से अधिक भावों के उदय होने पर भाव-शबलता होती है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए–

त्रिवली नाभि दिखाई करि सिर ढकि, सकुचि, समाहि।
गली-गली ओट कैं, चली भली विधि चाहि।

–(बिहारी)

उक्त पंक्तियों में नायिका का नायक को देखकर एक के बाद अनेक हाव भावों को देखने से भावशबलता है।

एक अन्य उदाहरण देखिए–

बालमु बारै सौति के सुनि पर नारि बिहार।
भौ रसु अनरसु रिस रली, रीझि खीझि इकबार।।

–(बिहारी)

इस प्रसंग में ईर्ष्या संयुक्त सुख सौत के साम आ जाने का दुःख, नायक के दूसरों के यहाँ न जाने पर रीझ और बुरी आदत पड़ने पर खीझ जैसे विरोधी भावों में भावशबलता दिखाई गई है।

2. संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि–जिस ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पूर्वापर क्रम स्पष्ट लक्षित होता है। वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। यह कभी शब्दशक्ति से प्राप्त होती है तो कभी अर्थशक्ति से। आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है–

अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्थितिस्तु यः।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ स्त्रिधा स कथितो ध्वनिः।।

–(काव्यप्रकाश.4/37)

अर्थात् अनुरणन (आस्वान) के समान लक्ष्य है क्रम जिसमें, ऐसे व्यंग्यार्थ की स्थिति जिसमें होती है वह संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है। अनुस्वान का अर्थ है–अनुरणन, घण्टा बजाने के पश्चात् प्रधान शब्द की प्रतीति के अनन्तर जो हल्का-सा शब्द निकलता है वही अनुरणन कहलाता है। यह शब्द, अर्थ की व्यंजना द्वारा उत्पन्न होने के कारण दो प्रकार ही होती है–(1) शब्दशक्ति उद्भव ध्वनि और (2) अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि।

(i) **शब्दशक्ति उद्भव ध्वनि**–इसमें शब्द शक्ति व्यंजना के द्वारा वस्तु या अलंकाररूप अनुरणन के समान व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसे शब्दशक्ति उद्भव कहा जाता है। इसके दो भेद हैं–(अ) वस्तुध्वनि और (आ) अलंकारध्वनि।

(अ) **वस्तु ध्वनि**–जहाँ व्यंग्यार्थ किसी वस्तु (भाव) के रूप में प्रतीत होता है वहाँ वस्तु ध्वनि मानी जाती है। उदाहरणार्थ–

जो पहाड़ को तोड़-फोड़कर राह बनाता।
जीवन निर्मल वही, सदा जो आगे बढ़ता।।

उक्त उदाहरण में पहाड़ से निकलने वाला जीवन (पानी) निर्मल होता है–यह वाच्यार्थ हुआ। जीवन शब्द के श्लिष्ट होने से व्यंग्यार्थ निकला कि वही मनुष्य पवित्र और गतिशील होता है जो पहाड़ जैसी आपत्तियों को झेलकर आगे बढ़ता है। यहाँ पर वस्तुध्वनि है–

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है–

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।। –(बिहारी)

उक्त पंक्तियों में राधा और कृष्ण की समरूपता की सिद्धि हलधर के वीर और वृषभानुजा में की गई है। अतः यहाँ पर वस्तुध्वनि है।

(आ) **अलंकारध्वनि**–जहाँ व्यंग्यार्थ किसी अलंकार के रूप में प्रतीत होता है, वहाँ अलंकार ध्वनि होती है। उदाहरण देखिए–

दिब्य अरघ नीचै चलो संकट भानै जाई।
सुचती है और सबै ससिहि बिलोकै आइ।। –(बिहारी)

उक्त उदाहरण में रूपक अलंकार व्यंग्य है क्योंकि नायिका के मुख पर चन्द्रमा को आरोप रूपक अलंकार के समान वाच्य रूप में न किया जाकर व्यंग्य रूप में किया गया है।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है–

अज्यों तरुयौना ही रह्यौ, श्रुति सेवक इक रंग।
नाकबास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग।। –(बिहारी)।

उक्त उदाहरण में सत्संग की महिमा का वर्णन किया गया है। वेद का ही एकमात्र पाठ करने वाले व्यक्ति की दशा की समता कानों में सदा लटकने वाले श्रुति-भूषण या कुण्डल से की गई है। यहाँ पर श्लेष अलंकार के साथ ही उपमालंकार व्यंग्य है। अतः यहाँ श्लेष के कारण चमत्कार दिखाई देता है।

(i) **अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि**–इसमें अर्थ (आर्थी) व्यंजना के द्वारा अनुरणन के सामान व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् किसी शब्द के पर्याय द्वारा भी वही अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है या पर्याय प्रयोग करने पर भी वही व्यंग्यार्थ बना रहता है उसे अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि कहते हैं।

ध्वन्यालोककार ने संलक्ष्यक्रम ध्वनि के दो ही भेद माने हैं जो इस कारिका में द्रष्टव्य हैं–

क्रमेण प्रतिभात्यात्म योऽनुस्वानसन्निभिः।
शब्दार्थ शक्ति मूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः।। –(ध्वन्यालोक 2.20)

अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि के बारह भेद बतलाए हैं। सर्वप्रथम व्यंजक अर्थ तीन प्रकार का होता है–(क) स्वतः सिद्ध, (ख) कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध और (ग) कविनिबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध।

(अ) **स्वतःसिद्ध**–इसे स्वतः सम्भवी भी कहते हैं। इसका व्यावहारिक जीवन में अस्तित्व होता है। यह केवल कल्पनाप्रसूत होता है। उदाहरण देखिए–

विप्रवंश की यह प्रभुताई। अभय होई जो तुमहि डराई।।

उक्त उदाहरण में लोक के ब्राह्मण की प्रतिष्ठा वस्तु है जिसे विरोधाभास अलंकार के माध्यम से व्यक्त किया गया है। निर्भय होने पर डरने के बीच में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित किया गया है जो विपरीत धर्म के है किन्तु लोक में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा को ध्यान में रखने से असंगति की प्रतीत नहीं होती है। अतः यहाँ अलंकार से विषयवस्तु की व्यंजना की गई है।

(आ) **कवि प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध**–इसमें कवि अपनी प्रतिभा द्वारा ही उस अर्थ की कल्पना करता है। यह आवश्यक नहीं है उसका अस्तित्व लोक में हो? वह कवि कल्पनामात्र प्रसूत अर्थ है। उदाहरण देखिए--

लगति सुभग शीतल किरन, निसदिन सुख अवगाहि।

माह सभी भ्रम सूर तन, रही चकोरी चाहि।।

उक्त पंक्तियों में किरणें रमणीक एवं शीतल हैं जिसके कारण दिन में ही रात्रि सुख का अनुभव करती हुई चकारी माह मास में सूर्य की ओर आसंकित भाव से देख रही है। किरणों के प्रति चकोरी की आसक्ति कवि की कल्पना है, इसके माध्यम से कवि ने सूर्य में दाहकता के अभाव का चित्रण किया है।

(इ) **कविनिबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध**–यह कवि द्वारा नायिकादि के रूप में उद्भाषित वक्ता की प्रतिभा द्वारा कल्पित होता है। उदाहरण देखिए–

को जाने बैठे हैं कहा, ब्रज उपजी अति आगि।

मन लागै नैनु लगै, चले न मन लगि लागि।।

यहाँ पर नयनों के लगने से लोक में आग कभी नहीं लगती है और मन जैसा अमूर्त्त (दिखाई न देने वाला) पदार्थ उस आग से जलता भी नहीं है। अतः यह सब नायिका की कल्पना है। स्वयं नायिका ही कवि-निबद्ध वक्ता है। कवि ने ऐसे वक्ता की कल्पना की है। यहाँ यह ध्वनि निकलती है कि नयनों से प्रिय को देखने के बाद से वियोग की दशा में पीड़ित हो रही हूँ। बिना प्रिय के जीवित रहना सम्भव नहीं रह गया है। अतः प्रिय-मिलन आवश्यक है।

◆◆◆

गुणीभूत व्यंग्य

3. गुणीभूत व्यंग्य का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए उसके भेदों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर–गुणीभूत व्यंग्य और उसके भेद–गुणीभूत व्यंग्य वह काव्य है जिसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान होता है अर्थात् वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है। ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने गुणीभूत व्यंग्य की परिभाषा इस प्रकार बतलाई है–

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।

यत्र व्यङ्ग्ययान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्।। –(ध्वन्यालोक 3.35)

ध्वनिकार का अनुसरण करते हुए आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य को इस प्रकार व्यक्त किया है–

अतादृशि गुणीभूत व्यंग्य तु मध्यमम्।। –(काव्यप्रकाश 1.2)

अर्थात् व्यंग्य अर्थ के वैसा अथात् वाच्यार्थ की अपेक्षा विशेष चमत्कार न होने पर (अतादृशि) तो मध्यम काव्य होता है। इसे ही (काव्य तत्त्वज्ञों) ने गुणीभूत व्यंग्य कहा है। आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य को मध्यम काव्य कहा है।

आचार्य मम्मट ने ऐसे काव्य को मध्यम काव्य कहा है जिसमें व्यंग्यार्थ होता तो है किन्तु वह वाच्यार्थ से बढ़कर नहीं होता, वाच्यार्थ से दबा होता है और गौण होता है। आनन्दवर्धनाचार्य ने इस काव्य को गुणीभूत व्यंग्य नाम दिया है।

इस प्रकार उत्तम अर्थात् ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता है, मध्यम अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ गौण हो जाता है और वाच्यार्थ अधिक चमत्कारक होता है। पण्डित जगन्नाथ ने इसे ही उत्तम काव्य के अन्तर्गत कहा है क्योंकि व्यंग्यार्थ का अस्तित्व इस काव्य में हैं। चमत्कार चाहे व्यंग्यार्थ में हो चाहे वाच्यार्थ में, उसका अस्तित्व होने से काव्य उत्तम कोटि का होता है।

गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद हैं–(1) अगूढ़ व्यंग्य, (2) अपरांग, (3) वाच्यसिद्धयंग, (4) अस्फुट, (5) सन्दिग्ध प्रधान, (6) तुल्यप्रधान, (7) काक्वाक्षिप्त तथा (8) असुन्दर।

अगूणमपरस्याङ्ग वाच्यसिद्धङ्गमस्फुटम्।

सन्दिग्धतुल्यप्रधान्ये काक्वाक्षिप्तं सुन्दरम्।।

4. अपूर्ण गुणीभूत व्यंग्य–जहाँ असहृदय जनों को भी व्यंग्यार्थ की शीघ्र प्रतीति हो जाती है अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट प्रतीत होता है, वहाँ अपूर्ण गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए–

धोखन मजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवत संतोष धन, सब धन धूरि समान।।

उक्त पंक्तियों में 'सब धन धूरि समान' से मुख्यार्थ की बाधा है परन्तु अर्थ यह निकलता है कि जब संतोष आ जाता है तब सब धनों का महत्त्व समाप्त हो जाता है। यहाँ व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि सन्तोष ही आवश्यक है, उसके सामने और धन बेकार है।

5. अपरांग गुणीभूत व्यंग्य–जहाँ व्यंग्यार्थ वाक्य के तात्पर्य रूप किसी अन्य प्रधान अर्थ का अंग अर्थात् उपकारक हो जाता है। अर्थात् जहाँ पर रस, भाव, भावाभास आदि एक-दूसरे के अंग हो जाते हैं, वहाँ पर अपरांग गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए–

सपनो है संसार यह, रहस सन जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ, काल कहाँ धौं होय।।

उक्त पंक्तियों में 'मिलि पिय मनमानी करौ, में शृंगार रस का भाव है शेष पंक्तियों में शान्त रस का। इन पंक्तियों में शान्त रस अर्थात् पोषक है और शृंगार रस पोषित होने के कारण अंगी है किन्तु शान्त रस शृंगार रस की अपेक्षा अधिक चमत्कारी हो गया है।

6. वाच्यसिद्धयंग गुणीभूत व्यंग्य–जहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि व्यंग्यार्थ के अधीन होती है अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसका अंग बन जाए, वहाँ वाच्यसिद्धयंग गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए–

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास हि काल।
अली कली ही सों बँध्यौ आगे कौन हवाल।।

उक्त पंक्तियों में वाच्य नायिका है जो कली से व्यंग्य है। इस व्यंग्यार्थ के स्पष्ट होने पर वाच्य की सिद्धि (अभी नायिका कम उम्र की है) सिद्धि होती है अतः उक्त पंक्तियों में वाच्यसिद्धिय गुणीभूत अंग व्यंग्य है।

4. अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य–जहाँ व्यंग्यार्थ को सहृदयजन भी सहज में नहीं समझ पाते। अर्थात् ऐसा व्यंग्य जो बहुत देर के बाद समझ में आए, अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य कहलाता है। उदाहरण देखिए–

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के।
प्रथम वसन्त में गुच्छ-गुच्छ।

उक्त पंक्तियों में प्रकृति का वर्णन द्रष्टव्य है किन्तु इसका व्यंग्यार्थ है कि नायिका के यौवन में पदार्पण करते ही उसके यौवन में अनेक जिज्ञासाएँ जाग्रत हो उठीं। यह बहुत देर बाद समझ में आता है। अतः यहाँ अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य है।

5. सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य–जहाँ यह सन्देह होता है कि वाच्यार्थ प्रधान है अथवा व्यंग्यार्थ, वहाँ सन्दिग्ध प्रधान्य गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए–

मानहुँ विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछन को कियो, भूषण पायंदाज।।

इस उदाहरण में वाच्यार्थ से उत्प्रेक्षा अलंकार है।

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है–

भीम थे या था क्रोध कठोर?
गिरा थी उनकी या कै घनघोर?

उक्त उदाहरण में 'भीम' और क्रोध कठोर में घनिष्ठ समानता के कारण वस्तुस्थिति का निर्धारण नहीं हो सका है।

6. तुल्य प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य–जहाँ चमत्कारोत्पादन में वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की प्रधानता वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक नहीं होती, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए–

आज बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात।
चाँद दिन सुखद चाँदनी रात, और फिर अंधकार अज्ञात।।

उक्त उदाहरण में इस वाच्यार्थ का यह व्यंग्यार्थ हुआ कि सभी के दिन एक समान नहीं रहते। यह वाच्यार्थ के समान ही चमत्कारपूर्ण है। अतः यहाँ तुल्यप्रधान्य गुणीभूत व्यंग्य है।

7. काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य–जहाँ पर काकु ध्वनि (कण्ठगत विशेष ध्वनि) के द्वारा व्यंग्य प्रकट होता है, वहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए–

है दससीस मनुष रघुनायक।
जिनते हनुमान से पायक।।

उक्त पंक्तियों में यहाँ व्यंग्यार्थ निकलता है कि राम मनुज नहीं है अतः यहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है।

8. असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य–जहाँ व्यंग्यार्थ स्वभाव से ही वाच्यार्थ की अपेक्षा कम चमत्कारपूर्ण होता है अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ सुन्दर न हो, वहाँ असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य होता है। उदाहरण देखिए–

बिहग शोर सुनि सुनि समुझि पछवारे की बाग।
जाति परी पियरी खरी, प्रिया भरी अनुराग।।

यहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्य है कि बाग में प्रिय में मिलने के लिए प्रिया अत्यन्त व्याकुल है जो वाच्यार्थ से भी स्पष्ट है और यहाँ पर कोई चमत्कार नहीं है।

◆◆◆

10. वक्रोक्ति सिद्धांत : स्वरूप तथा स्थापनाएँ

1. वक्रोक्ति सिद्धांत के स्वरूप और स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए। **(Most Imp.)**

अथवा

वक्रोक्ति से क्या अभिप्राय है? वक्रोक्ति सिद्धांत का स्वरूपगत विकास स्पष्ट कीजिए।

अथवा

वक्रोक्ति सिद्धान्त की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

वक्रोक्ति सिद्धांत का अन्य काव्य सिद्धांतों से संबंध बताइए।

उत्तर–वक्रोक्ति की अवधारणा–वक्रोक्ति-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त प्रौढ़ काव्य-चिन्तन है। ग्यारहवीं सदी के अन्त में **'राजानक'** की उपाधि से पुरस्कृत काव्यशास्त्री 'कुन्तक' ने अपनी पुस्तक **'वक्रोक्ति जीवितम्'** में वक्रोक्ति को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हुए इसे 'काव्य की आत्मा' माना और 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' की स्थापना की। हालाँकि व्यवहार में वक्रोक्ति तभी से रही है जब मनुष्य ने भाषा का व्यवहारपूर्ण रूप से सीख लिया। आज भी श्रोता को चमत्कृत करने के लिए लोग अस्वाभाविक वक्र अथवा टेढ़े कथनों का सहारा लेते हैं। कुन्तक काव्य और उसके सभी तत्त्वों-प्रभेदों का समावेश इसी वक्रोक्ति में करते हैं।

संस्कृत साहित्य समीक्षा के इतिहास में 'वक्रोक्ति' अलंकार 'वक्रोक्ति सिद्धांत' के आने से पहले ही मौजूद था। अलंकार, रस, रीति और ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना हो चुकी थी। ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो जाने तथा रीति सिद्धान्त में गुण को वामन द्वारा काव्य शोभा-धर्म मानने के बाद अलंकार की प्रतिष्ठा कम हो गई थी। अलंकार आभूषण के अर्थ में संकुचित हो गया था। इस प्रकार एक नए सिद्धान्त की स्थापना के लिए कुन्तक के पास उर्वरा भूमि थी। इससे स्पष्ट होता है कि 'वक्रोक्ति अलंकार' और 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' समय-समय पर व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में प्रयोग होता रहा।

वक्रोक्ति का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप–काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति शब्द का प्रचलन अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित है। इस विषय में बहुत सारे आचार्यों का अभिमत हमें प्राप्त होता है जिसमें से कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण लोगों के अभिमत से हम लोग प्रस्तुत पाठ में परिचित होंगे। भारतीय काव्यशास्त्र में 'काव्य की आत्मा' की खोज के लिए छह मुख्य काव्य सम्प्रदायों का विकास हुआ है। हम यहाँ विस्तार से वक्रोक्ति सिद्धान्त के बारे में अध्ययन करेंगे और जानेंगे कि कोई सिद्धान्त कब सिद्धान्त से सम्प्रदाय बन जाता है। वक्रोक्ति दो शब्दों से मिलकर बना है–वक्र + उक्ति। वक्र का अर्थ है–'विलक्षण' या 'कुटिल' तथा उक्ति का अर्थ है–कथन। इस प्रकार वक्रोक्ति का अर्थ हुआ–बाँकपन और विलक्षणता से भरा हुआ कथन। किसी कथन को सामान्य ढंग से

कहने से विलक्षणता नहीं आती है अपितु उसे चामत्कारिक ढंग से कहने से उसका बाँकपन या विलक्षणता का उभार होता है। जहाँ बोलचाल की सामान्य भाषा और शास्त्रीय ग्रन्थों की भाषा अलंकारहीन, चमत्कारशून्य, सीधी-सपाट, अभिधात्मक होती है, वहीं काव्य की भाषा अलंकृत होने के कारण अनूठी, भंगिमामय और चमत्कारपूर्ण होती है। यहाँ हम वक्रोक्ति शब्द के विकास के अनुक्रम में कुछ काव्यशास्त्रियों के अभिमत से परिचित होते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों का वक्रोक्ति-चिन्तन

- **भामहः**–वक्रोक्ति की प्रथम बार परिभाषा करने का श्रेय अलंकारवादी आचार्य भामह को है। उन्होंने सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को स्वीकार किया। उनका मानना था कि लोकोत्तर वचन या अनूठी उक्ति को अतिशयोक्ति कहा जाता है। उनके कथन में अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति एक जैसे अर्थ वाले शब्द हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में लिखा है–

  सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
  यत्नोस्याम कविना कार्यः को अलंकारों अनया बिना।। –(काव्यालंकार 2.85)

  अर्थात् वह अतिशयोक्ति ही सर्वत्र वक्रोक्ति है। इसी के द्वारा अर्थ में चमत्कार या दीप्ति आती है। अतः कवियों को वक्रोक्ति क्षेत्र में प्रयास करना चाहिए। इस वक्रोक्ति के बिना कोई अलंकार नहीं होता है। उनके अनुसार इसके बिना कोई रचना काव्य न होकर कथन समुदाय या वार्ता मात्र रह जाती है। वे **'काव्यालंकार'** में लिखते हैं कि **"न कांतामपि निर्भूषम् विभाति वनितामुखं"** अर्थात् नारी का सुन्दर मुख आभूषण रहित होने पर सुशोभित नहीं होता है। उन्होंने इसकी परिभाषा में कहा–"लोकातिक्रान्तगोचरं वचनम्।" अर्थात् लोक की साधारण कथन प्रणाली से भिन्न वचन ही वक्रोक्ति है। इस तरह भामह ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया और सभी अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति को माना।

- **दण्डी**–दण्डी ने सम्पूर्ण वाङ्मय को दो भागों में विभक्त किया है–स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। **"द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिवक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।"** स्वभावोक्ति में दण्डी के अनुसार पदार्थों का साक्षात् वर्णन होता है और वह आद्य अलंकार है। शास्त्रों में उसका एकच्छत्र साम्राज्य है। वक्रोक्ति इससे सर्वथा भिन्न है। उसमें सहज, स्वाभाविक सीधा, साक्षात् वर्णन नहीं उसमें वक्र अर्थात् चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है। दण्डी के अनुसार श्लेष के सम्पर्क से वक्रोक्ति और भी खिल उठती है। भामह की वक्रोक्ति कल्पना को ही दण्डी ने भी स्वीकार किया है। दोनों लोकवार्ता से भिन्न, विशिष्ट, चमत्कारपूर्ण वाक्-भगिमा को वक्रोक्ति मानते हैं। उन्होंने अपने 'काव्यादर्श' में स्वभावोक्ति को छोड़कर शेष उपमा आदि भी सभी अलंकारों को वक्रोक्ति (श्लेष) का पर्याय माना है–

  श्लेशः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु किंचन। –(काव्यादर्श)

- **वामन**–वामन पहले आचार्य हैं जिन्होंने वक्रोक्ति को लक्षणा का पर्याय मानते हुए इसे शब्दालंकार नहीं, अर्थालंकारों में स्थान दिया है अर्थात् वामन ने वक्रोक्ति की व्याप्ति को दण्डी से भी अधिक सीमित कर दिया। उन्होंने वक्रता की सीमा केवल 'सादृश्याश्रित लक्षणा' तक मानी–

  सादृश्य लक्षणा वक्रोक्तिः। –(काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 4.3-8)

  अर्थात् सादृश्य पर आधारित (गौड़ी) लक्षणा वक्रोक्ति अलंकार कहलाता है। वामन ने वक्रोक्ति को सर्वथा उपेक्षणीय नहीं समझा है। रीति को काव्य की आत्मा घोषित करते हुए भी **'विशिष्ट पद रचना रीति'** में जो विशिष्टता है, वह वक्रोक्ति से बिल्कुल भिन्न नहीं है। वामन का ओज श्लेष, उदारता, कान्ति आदि शब्द-गुण-बीज-ओज आदि साभिप्राय कुन्तक की पर्याय वक्रता और विशेषण वक्रता का समानधर्मा है। निश्चय ही वामन ने वक्रता का अनेक रूपों में वर्णन किया है किन्तु अपना से और अपने ढंग से वक्रोक्ति का लोकोत्तर चमत्कार उन्हें पूर्णतया ग्राह्य है–केवल शब्दावली भिन्न है। हालाँकि वामन की यह अवधारणा कहीं से भी स्वीकृत नहीं हो सकी।

- **रुद्रट**–रुद्रट ने वक्रोक्ति को केवल शब्दालंकार तक सीमित करते हुए इसके दो भेद माने–(i) काकु वक्रोक्ति और (ii) सभंग वक्रोक्ति। –(काव्यालंकार 2.14-17)

  उन्होंने भामह और दण्डी के समान इसको मान नहीं दिया। उसके अनुसार 'काकु वक्रोक्ति' में उच्चारण एवं स्वर के उतार-चढ़ाव द्वारा उक्ति का वक्र अर्थ किया जाता है और 'श्लेष वक्रोक्ति' में श्लेष के द्वारा।

संक्षेप में विचित्र अभिधा (वर्णन शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार–

(1) वक्रोक्ति का अर्थ विचित्र अभिधा या उक्ति (कथन प्रकार)।

(2) विचित्र का अभावात्मक अर्थ है–प्रसिद्ध कथन शैली से भिन्न। प्रसिद्ध शब्द का स्वयं कुन्तक ने दो स्थलों पर प्रयोग किया है–(i) **"शास्त्रादि प्रसिद्ध शब्दार्योपनिबंध व्यतिरेकः।"** शास्त्र आदि में उपनिबंध शब्द अर्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न अर्थ। (ii) अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार सरणि का अतिक्रमण करने वाली प्रसिद्ध (वक्रोक्ति)। प्रसिद्ध का अभिप्राय है सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त। इन दोनों के आधार पर प्रसिद्ध का अर्थ है–**"शास्त्र व व्यवहार में प्रयुक्त"**।

(3) विचित्र का भावात्मक अर्थ है–वैदग्ध्यजन्य चारुता से युक्त। कुन्तक ने स्थान-स्थान पर विचित्र, चारु आदि शब्द का पर्याय रूप में प्रयोग किया है।

(4) वैदग्ध्य से अभिप्राय है कवि-कर्म कौशल का। अतएव वैदग्ध्यजन्य चारुता का अर्थ हुआ कवि कौशलजन्य चमत्कार।

(5) कवि कौशल के लिए कुन्तक ने कवि व्यापार शब्द का अधिक प्रयोग किया है–**"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनि"**। यहाँ कवि व्यापार का अर्थ है कवि प्रतिभा पर आश्रित कर्म–**"व्यापारस्य कवि प्रतिभोल्लिखि तस्य कर्मण"**। प्रतिभा की परिभाषा कुन्तक ने इस प्रकार की–

प्राक्तनाद्यतप संस्कार परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभाकाचिदेव कवि शक्तिः।

अर्थात् पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कारों के परितोष से प्रौढ़ कवि शक्ति का नाम प्रतिभा है। इस प्रकार कवि कौशल से अभिप्राय उस व्यापार से है जो पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कारों के परिपाक से प्रौढ़ कवि-शक्ति द्वारा अनुप्रेरित होता है।

(6) वक्रोक्ति के इस वैचित्र्य या वक्रत्व के लिए कुन्तक ने एक अनिवार्य उपालम्भ रखा है–तद्विदाह्लादकारित्व। अर्थात् कवि का विचित्र अथवा लोकशास्त्र में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के उपनिबंध से भिन्न होना ही पर्याप्त नहीं है और कवि कौशल पर आश्रित होना भी अन्तिम प्रमाण नहीं है। इसमें तो सहृदय का मनःप्रसादन करने की क्षमता अनिवार्यतः होनी चाहिए। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं कि वक्रोक्ति केवल शब्द क्रीड़ा व अर्थ क्रीड़ा नहीं है और दूसरा वक्रोक्ति का स्वभावोक्ति से कोई विरोध नहीं है क्योंकि स्वभावोक्ति में स्वभाव वर्णन की सहज चारुता और उसके कारण मनःप्रसादन की क्षमता निश्चय ही वर्तमान रहती है अर्थात् वक्रोक्ति का विरोध इतिवृत्त वर्णन, या भामह आदि के शब्दों में वार्ता से ही है। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति उस युक्ति या कथन शैली का नाम है जो लोक व्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के उपनिबंध से भिन्न, कवि प्रतिभा जन्य चमत्कार के कारण सहृदय आह्लादकारी होती है।

काव्यात्मा से अभिप्राय है कि काव्य का वह तत्त्व जो शरीर में आत्मा के समान काव्य में निहित हो। दूसरे शब्दों में, काव्य की आत्मा उस तत्त्व को कहा जाता है जिसके बिना काव्य, काव्य होकर भी काव्य नहीं है जिसकी सत्ता के बिना काव्य की प्रस्तुति ही सम्भव नहीं है। कुन्तक की विशेषता यह है कि वे काव्य की आत्मा के झमेले में नहीं पड़ते हैं। वे आत्मा या परमतत्त्व के रूप में किसी इतर वस्तु की खोज नहीं करते हैं। वे काव्य को छोड़कर रस अथवा ध्वनि की ओर आकृष्ट नहीं होते हैं। उनके आकर्षण का केन्द्र स्वयं रचना है। कलाओं के आस्वाद का परम रहस्य होने के कारण रस में आलोचकों को काव्य के विलय का देने की बड़ी मोहक शक्ति है। रस की अलौकिकता अन्तः शब्दों से निस्सृत होती है। काव्यालोचन का वह सिद्धान्त जो अनुभूति के दर्शन पर आधारित है, आलोचक के लिए कई कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देता है। अतएव आलोचक की व्यावहारिक सुविधा का ख्याल कर कुन्तक ने काव्य की आत्मा की खोज नहीं की और वे अनुभूतिवादी दर्शन से बचकर निकल गए। इसी कारण वक्रोक्ति को उन्होंने काव्य का जीवित बतलाया। यह साहित्यिक आलोचना का विशुद्ध सिद्धान्त है।

वक्रोक्ति में अलंकार और अलंकार्य

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति का उल्लेख करते हुए अलंकार और अलंकार्य का उल्लेख किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए समग्र कवि-कर्म-कौशल को वक्रोक्ति कहा है और इसे शोभाकारक धर्म या अलंकार्य माना है। यह वक्रोक्ति काव्य का विधायक होने से अलंकार है। यहाँ कुन्तक ने 'अलंकार' का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हुए काव्य के समस्त सौन्दर्य विधायक तत्त्व को 'अलंकार' कहा है। अब प्रश्न उठता है कि अगर वक्रोक्ति अलंकार है तो 'अलंकार्य' कौन है? इस सम्बन्ध में कुन्तक की मान्यता है कि शब्द और अर्थ दोनों ही सम्मलित रूप में अलंकार्य हैं और चातुर्यपूर्ण, भंगिमामयी उक्ति के रूप में वक्रोक्ति शब्द और अर्थ दोनों को अलंकृत करने वाला सौन्दर्य विधायक तत्त्व अलंकार है।

इस प्रकार कुन्तक के अनुसार काव्य के दो तत्त्व हैं–अलंकार (वक्रोक्ति) और अलंकार्य (शब्द और अर्थ), किन्तु वे दोनों पृथक् सत्ता नहीं मानते। उन्होंने केवल समझने-समझाने के लिए यह वर्गीकरण किया है। कुन्तक अलंकार और अलंकार्य तथा द और अर्थ की अभिन्नता का मूल स्रोत कवि के रचनाधर्मी स्वभाव को मानते हैं जिसमें प्रतिभा, विदग्धता और अभ्यास संयुक्त से समाहित रहते हैं। प्रतिभा कवि स्वभाव की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति है।

क्रोक्ति और अन्य काव्य-सिद्धान्त

परम्परागत रूप से साहित्य में सौन्दर्य-चेतना की भाववादी तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण का विवेचन होता रहा है। भाववादी न्दर्य के पक्षधर सौन्दर्य का सम्बन्ध मनुष्य के आन्तरिक-चेतना से मानते हैं जो अपरोक्ष और सूक्ष्म होता है। इसके ठीक विपरीत तिक सौन्दर्य के पक्षधर यह मानते हैं कि सौन्दर्य का सम्बन्ध वस्तु सत्ता से है जिसका भोक्ता मनुष्य स्वयं होता है। इस न्दर्य का उपभोग मनुष्य अपनी अनुभूति से करता है। किसी भी सुन्दर वस्तु का अस्तित्व मनुष्य स्वयं होता है। इस सौन्दर्य का पभोग मनुष्य अपनी अनुभूति से करता है। किसी भी सुन्दर वस्तु का अस्तित्व मनुष्य की अनुभूति पर निर्भर करती है। पाश्चात्य ौन्दर्यशास्त्र में भावतत्त्व का सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन वर्षों तक विस्तार से किया जाता रहा है। पाश्चात्य विद्वानों ने भावतत्त्व को ाहित्य के सन्दर्भ में काफी महत्त्व दिया है जिस पाश्चात्य विद्वानों 'डेकार्टेज', 'एडिसन', 'हुम' आदि विचारकों ने कला के माध्यम से भावों की उद्दीप्ति से सौन्दर्यानुभूति होना स्वीकारा है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्वच्छन्दतावाद और छायावाद के दौर तक सौन्दर्य का दृष्टिकोण भाववादी था किन्तु सन् 1935 के प्रगतिशील आन्दोलन के विकास के साथ ही यह बोध वस्तुवाद के निकट होकर मेहनतकश के सामाजिक संघर्ष और वस्तु-चेतना के उस परिवर्तित रूप पर केन्द्रित हो गया जिनमें वैज्ञानिक चिन्तन और सामाजिक विकास की दिशाएँ मौजूद थीं। 'मार्क्स', 'एंगेल्स' और 'लेनिन' के कतिपय मूल्यों का परिष्कार कर सौन्दर्य-बोध के नये पक्षों पर रचनाकारों का ध्यान केन्द्रित हुआ जिसमें सामाजिक, राजनैतिक-चेतना विद्यमान है।

1. वक्रोक्ति और रस–अर्थ की विभूतियों में सबसे मूल्यवान् रस है। अतएव रस वक्रोक्ति रूपिणी काव्यकला का परम तत्व है। काव्य की प्राण चेतना वक्रता है और वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार रस-सम्पदा है। इस प्रकार वक्रोक्ति के साथ रस का सम्बन्ध लगभग वही है जो ध्वनि के साथ है। इस और ध्वनि दोनों आत्मनिष्ठ हैं, अतएव उनका संबंध अधिक अंतरंग है। वक्रोक्ति मूलतः वस्तुनिष्ठ है। अतः रस के साथ उसका सम्बन्ध आधार-आधेय का ही है। वक्रोक्ति के अन्तर्गत रस का स्थान क्या है? अलंकार्य मान लेने से रस को अधिक पराकाष्ठा प्राप्ति नहीं होती। अलंकार्य शरीर है और अलंकार आभूषण। वह आत्मा तो नहीं बन सकता। किसी भी काव्य का रसत्व ही उसका काव्यत्व है। इसी महिमा से कुन्तक इतने अभिभूत हैं कि प्रकारान्तर से वे उसका अलंकारत्व स्वीकार कर लेते हैं। रस की औचिती कुन्तक प्रबन्ध में मानते हैं। कुन्तक ध्वनिकार की भाँति रस को काव्य का परम तत्त्व मानते हैं। प्रबन्ध वक्रता के विवेचन में उन्होंने यह स्पष्ट किया है। प्रबन्ध वक्रता वक्रोक्ति का सबसे प्रौढ़ व उत्कृष्ट रूप है। कुन्तक के अनुसार काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रबन्ध है–

प्रबन्धेषु कवीन्द्राणां कीर्तिकन्देषुकिं पुनः।

2. वक्रोक्ति और अलंकार–कुन्तक ने अलंकारों पर अपने 'जीवित' के जिस उन्मेष (तृतीय) में विचार किया है। वह खण्डित रूप में प्राप्य है अतएव इन अलंकारों पर उनके सूक्ष्म चिन्तन मनन के पूर्ण ज्ञान से हम वंचित रह जाते हैं। उन्होंने इन अलंकारों पर विचार करते हुए विश्लेषण की सूक्ष्मशक्ति, वस्तु की पकड़ और स्वाधीन चिन्तन का प्रमाण पद-पद पर दिया है। वे भामह के तीन प्रकार के दीपक का खण्डन करते हैं और इसी प्रकार अनेक अलंकारों के अलंकारत्व का प्रत्याख्यान करते हैं। यदि उनके ग्रन्थ का यह भाग त्रुटि रहित मिला होता तो मम्मट और रुय्यक जैसे ध्वनि सम्प्रदाय में दीक्षित आचार्यों पर उनके प्रभाव का सही-सही विश्लेषण हो पाता। उन्होंने अपने ग्रन्थ के कारिका भाग का नामकरण 'काव्यालंकार' किया। भामह, वामन, रुद्रट आदि आचार्यों ने भी काव्यालंकार नाम से अपने ग्रन्थों की रचना की और काव्य के उपमा, व्यतिरेक, श्लेष आदि शब्दालंकारों का निरूपण किया है परन्तु कुन्तक जिस काव्यालंकार की रचना कर रहे हैं, वह विशिष्ट प्रकार का अलंकार है और वह है वक्रोक्ति। उनका कहना है कि यद्यपि बहुत से 'काव्यालंकार' विद्यमान हैं परन्तु उनमें से किसी से इस प्रकार के लोकोत्तर वैचित्र्य की सिद्धि नहीं हो सकती। यही अलंकार का विशिष्ट प्रयोग है। 'वाक्य वक्रता' के अन्तर्गत उन्होंने उपमादि अलंकार वर्ग का विशद् वर्णन प्रस्तुत किया है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना और साथ ही अलंकार भी–

उभावेतानलंकार्यौ तर्योः पुनरलंकृति। वक्रोक्तिरेव ... ।

इस प्रकार वक्रोक्ति नाम भेद से अलंकार सिद्धान्त ही रहता है। कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यम्' कहकर की अनिवार्यता स्वीकार कर ली। दोनों के दृष्टिपरक तथा काव्य की कवि कौशल पर ही आश्रित माना गया है। वर्गीकृत्यों के प्रबन्धासौष्ठव तक समस्त काव्य रूप चमत्कार प्राण है। एक में उसे अलंकार कहा गया है दूसरे में वक्रता। अतः यह भेद भेद है, अर्थ का नहीं तथा दोनों में उक्ति वैदग्ध्य का ही प्राधान्य है तथा रस को उक्ति के आश्रित माना है। इस प्रकार सिद्धान्त अलंकार सिद्धान्त से कहीं अधिक बेजोड़, उदार, सूक्ष्म व पूर्ण है।

3. वक्रोक्ति एवं रीति–भारतीय काव्यशास्त्र में रीति के क्षेत्र में भी वक्रोक्ति सिद्धान्त ने विलक्षण क्रान्ति उपस्थित की। पहला सोपान यह है जब रीति वेश से सम्बद्ध मानी जाती थी। दूसरा सोपान यह है जब वह देश के आर्यों से मुक्त होकर के साथ जोड़ दी गई। तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण सोपान यह है कि कुन्तक ने अपनी प्रखर मेधा व सांहितिक उपयोग करते हुए इसे कवि स्वभाव से सम्बद्ध बताया और पुरानी रीतियों के स्थान पर नयी रीतियों की स्वतन्त्र रीति सिद्धान्त अलंकारों के अति सूक्ष्म भेदों-उपभेदों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। रीतिवाद ने यह स्थापना दी कि कवि प्रस्थान का मार्ग ही वह सीधा है जिसमें चलकर अलंकार स्वयं निस्सृत होते हैं। कुन्तक ने रीति पर विचार करने में भाषा की प्रौढ़ि का परिचय दिया है। उन्होंने पहली बार रीति की भौगोलिक संज्ञाओं का पूर्ण तिरस्कार किया। उन्होंने सुकुमार व विचित्र मुख्य प्रकार बताए हैं। उनके अनुसार सुकुमार व विचित्र मार्ग क्रमशः वैदर्भी और गौड़ी के स्थानापन्न हैं। कुन्तक ने प्रथम यह स्थापित किया कि रीति का पार्थक्य कवि-स्वभाव के कारण उत्पन्न होता है न कि देशभेद के कारण। भारतीय काव्यशास्त्र को उनकी यह अनन्य साधारण देन है।

4. वक्रोक्ति और ध्वनि–अभिनव गुप्त के समय में ही ध्वनि सम्प्रदाय के विरुद्ध विद्रोह हो गया। कुन्तक और महिमभट्ट ध्वनि सम्प्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा को चुनौती देते हुए क्रमशः वक्रोक्ति व अनुमान की प्रतिष्ठा की। वक्रोक्ति सम्प्रदाय का उ वास्तव में प्रत्युत्तर रूप में हुआ था लेकिन ध्वनि सम्प्रदाय की सार्वभौम प्रतिष्ठा को चुनौती देना और ध्वनि सम्प्रदाय की उपलब्धियों को नकारना एक ही बात नहीं है। विचारों के इतिहास का विद्रोह प्राक्तन चिन्तन का समग्र अस्वीकार न होकर किंचित् संशोधन ही होता है। कुन्तक कृत वक्रोक्ति की परिभाषा-प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली वक्रोक्ति है। यह कैसी है? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति। वैदग्ध्य का अर्थ है–कवि कर्म कौशल प्रसिद्ध कथन से भिन्न का है। इस प्रकार हम ध्वनि और वक्रोक्ति की तुलना कर सकते हैं–

(1) शास्त्र आदि में उपनिबद्ध शब्द अर्थ के सामान्य प्रयोग से भिन्न तथा,

(2) प्रचलित (सामान्य) व्यवहार सरणि का अतिक्रमण करने वाला।

इन दोनों परिभाषाओं का तुलनात्मक परीक्षण करने पर ध्वनि और वक्रोक्ति का साम्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है।

5. वक्रोक्ति और औचित्य–कुन्तक ने अपने प्रायः सभी वक्रता भेदों में किसी-न-किसी रूप में औचित्य का आधार स्वीकार किया है। वर्णविन्यास वक्रता के विवेचन में कुन्तक ने स्पष्ट लिखा है कि वक्रतापूर्ण वर्णयोजना अनिवार्य रूप से प्रस्तुतौचित्यशोभिनी होती है अर्थात् काव्य के अन्तर्गत वर्णों का विन्यास प्रस्तुत प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए, उससे स्वतन्त्र नहीं। इस प्रकार पूर्वार्द्ध वक्रता तथा प्रत्यय वक्रता के अनेक प्रमुख भेद भी औचित्य मूलक ही हैं। कुन्तक लिखते हैं–

(1) पर्यायवक्रता का आधार है उचित पर्याय का चयन अथवा पर्यायौचित्य।

(2) विशेषणवक्रता का आधार है उचित विशेषण का निर्वचन।

(3) वृत्तिवक्रता में समास रचना का औचित्य अपेक्षित होता है।

(4) लिंग वक्रता का आधारभूत सौन्दर्य लिंग प्रयोग के औचित्य के ही आश्रित है। इसी प्रकार प्रत्यय वक्रता के भी प्रमुख भेदों में कारक, पुरुष, संख्या, काल, उपग्रह आदि में औचित्य का ही चमत्कार वर्तमान रहता है जो वक्रता का चतुर्थ भेद है।

वास्तव में वक्रोक्ति व औचित्य दोनों सिद्धान्त की प्रतिपादन योजना में ही मूलगत साम्य है। कुन्तक और क्षेमेन्द्र दोनों ने काव्य में सूक्ष्मतम से लेकर महत्तम रूप तक प्रायः एक ही क्रम से अपने सिद्धान्त का विस्तार कर उसे सर्वव्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार वर्ण, लिंग था कारक आदि से लेकर वाक्य प्रकरण तथा प्रबन्ध तक वक्रता का साम्राज्य है, उसी प्रकार औचित्य का भी–

पदे, वाक्ये, प्रबन्धार्थे, गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां, कारके, लिंगे वचने च विशेषणे।
काव्यस्यांगेषु च प्रहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।

परन्तु इस योजना साम्य का कारण कदाचित् यह नहीं है कि क्षेमेन्द्र के कुन्तक का अनुकरण किया है। इस साम्य का कारण यह है कि दोनों ही ध्वनिकार की योजना को आदर्श मानकर चले हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वक्रोक्ति-सिद्धान्त औचित्य से पूरी तरह अनुशासित है। वक्रता के लगभग सभी प्रकारों में औचित्य वस्तु अथवा रस के सम्बन्ध में उद्भासित हुआ है। वक्रोक्ति औचित्य का ही दूसरा नाम है। वक्रोक्ति व औचित्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुन्तक ने औचित्य को वक्रोक्ति का जीवन मानते हुए भी दोनों को एक रूप ही माना है। वक्रता अथवा काव्य-सौन्दर्य का मूल आधार औचित्य है क्योंकि उन्हीं के शब्दों में औचित्य की यत्किंचित् हानि से भी सहृदय के आह्लाद में व्याघात उत्पन्न हो जाता है।

वक्रोक्ति विरोधी आचार्य

वक्रोक्ति सिद्धान्त को कुन्तक की देन अनन्यतम है किन्तु यह सैद्धान्तिक आधार कुन्तक के साथ ही विलुप्त हो गया। 'वक्रोक्तिजीवितम्' के लोप हो जाने के कारण इसके स्वतन्त्र अस्तित्व को भी लोप हो गया परन्तु कुन्तक की वक्रता काव्य का कोई विशेष अंग न होकर वस्तुतः कवि व्यापार का पर्याय है। उसकी स्थापना साहित्य में वैदग्ध्य अथवा कवि कौशल अर्थात् साहित्य के कला पक्ष की प्रतिष्ठा है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में कुन्तक की वक्रता का भले ही उल्लेख न हुआ हो पर वक्रता वैभव प्राचीनकाल से लेकर आज तक के साहित्य में प्राप्य है। कुन्तक, अभिनव गुप्त और भोज के पश्चात् वक्रोक्ति सिद्धान्त की महत्ता क्षीण होने लगती है। ध्वनि सिद्धान्त के अन्यतम विरोधी **महिमभट्ट** ने भी वक्रोक्ति को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा–**"सहृदयता का अभिनय करने वाले कुछ लोग शास्त्र आदि में प्रचलित शब्दों और अर्थों की योजना से भिन्न जो वैचित्र्य है उसे वक्रता कहते हैं जो समीचीन नहीं है। इसी तरह से दूसरे आचार्य मम्मट वक्रोक्ति को संकुचित अर्थ में ग्रहण करते हैं।"**

वक्रोक्ति सिद्धान्त या सम्प्रदाय–यह सवाल अमूमन पूछा जाता है कि वक्रोक्ति सिद्धान्त है या सम्प्रदाय? कोई भी सिद्धान्त सम्प्रदाय तब बनता है जब एक लम्बी परम्परा निरन्तर उसका विस्तार करती है। उससे और दूसरे काव्य-सिद्धान्त उद्भूत होते हैं या उनका विस्तार होता है। वक्रोक्ति को यह सौभाग्य नहीं मिल सका। इस सिद्धान्त को जिस उद्देश्य को संज्ञान में लेकर बनाया गया था उसका सम्यक् विस्तार नहीं हो सका। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसे अलंकार विशेष का रूप प्रदान करके इसे उक्ति वैचित्र्य का साधन घोषित कर दिया। अलंकार सिद्धान्त के बहुत करीब आकार वह मात्र एक अलंकार ही रह गया। कुंतक के अतिरिक्त किसी भी आचार्य ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहना उचित नहीं समझा। इस तरह से यह सिद्धांत व्यापक प्रसिद्धि नहीं पा सका और सिद्धांत तक सीमित रह गया।

◆◆◆

वक्रोक्ति के भेद

2. वक्रोक्ति सिद्धांत का संक्षिप्त परिचय देते हुए वक्रोक्ति के भेदों पर प्रकाश डालिए। (Imp.)

अथवा

कुंतक द्वारा किए गए वक्रोक्ति के भेदों का विवेचन कीजिए।

उत्तर–वक्रोक्ति सिद्धान्त–कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवितम्' में अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा अपने पूर्व के अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि तथा रस आदि प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के स्थान पर एकदम नवीन काव्य-सिद्धांत का प्रतिपादन किया। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया और इसके अन्तर्गत प्रचलित सभी काव्य-सिद्धान्तों का समाहार किया। साथ ही उन्होंने समस्त काव्यांगों–वर्ण चमत्कार, शब्द सौन्दर्य, विषयवस्तु की रमणीयता, अप्रस्तुत विधान, प्रबन्ध कल्पना आदि को वक्रोक्ति में स्थान दिया है। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति केवल वाक् चातुर्य अथवा उक्ति चमत्कार नहीं है, वह कवि व्यापार अथवा कवि कौशल है।

वक्रोक्ति के छह प्रमुख भेद

वक्रोक्ति सिद्धांत बहुत सीमा तक व्यापक ही नहीं अपितु समन्वयशील सिद्धांत है। आधुनिक भाषाविद् इसे विशिष्ट सैद्धान्तिक विषय स्वीकार करते हैं इसीलिए यह भी स्वीकार करते हैं कि यह सिद्धांत भाषाविज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति पर परखा जा सकता है। स्पष्ट है इससे 'वक्रोक्ति' की महत्ता, सार्वजनीनता और इसके संगत होने के अनेक कारण विद्यमान हैं। वक्रोक्ति

सिद्धान्त काव्य के सूक्ष्मतम रूप से प्रारम्भ होकर उसके महत्म रूप तक में दिखाई देता है। इस सिद्धान्त में कुन्तक वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबन्ध आदि का क्रमिक और वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं। यहाँ हम वक्रोक्ति के क्रमिक विकास की झलक से परिचित होते हैं। कुन्तक के अनुसार **'वक्रोक्ति'** काव्य की आत्मा है। इसे वे शब्द और अर्थ की सृष्टि मानते हैं। उनका मानना है कि शब्द और अर्थ अलंकार्य है (जिससे अलंकृत किया जाता है) और वक्रोक्ति उनका अलंकार (जिसे अलंकृत किया जाता है) है। कुन्तक वक्रोक्ति को छह भागों में विभाजित करते हैं जो इस प्रकार है–**वर्ण-विन्यास वक्रता, पद पूर्वार्द्ध वक्रता, पद परार्द्ध वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता, प्रबन्ध-वक्रता।**

वक्रोक्ति के इन भेदों का संक्षिप्त परिचय यहाँ उदाहरण सहित दिया जा रहा है–

1. वर्ण-विन्यास वक्रता–वर्ण-विन्यास वक्रता वस्तुतः व्यंजन-चारुता है। इस व्यंजन-चारुता का दूसरा नाम **'अनुप्रास'** है। कुन्तक इसमें शब्दालंकारों, जैसे–अनुप्रास, यमक, शब्द गुणों, विभिन्न वृत्तियों आदि को शामिल करते हैं। वर्ण-विन्यास में सिद्ध कवि सहज की सौन्दर्य और संगीत की सृष्टि करने में सक्षम होता है। वर्णों के ललित और पुरुष स्वभाव का सीधा सम्बन्ध रसास्वादन से होता है। जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहरायी जाती है तो श्रोता आवेग की वक्रता से सहज ही प्रभावित होता है। आचार्य कुन्तक ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जब वर्णों का विन्यास उसके सामान्य प्रयोग की अपेक्षा भिन्न ढंग से अथवा विचित्रता उत्पन्न करने वाले रूप में किया जाए तभी इस प्रकार की वक्रोक्ति सहृदय के हृदय को द्रवित करने वाली हो सकती है। व्यंजन का सामान्य प्रयोग वर्णविन्यास वक्रता नहीं हो सकती है। कविकर्म का प्रथम सोपान वर्ण-विन्यास वक्रता ही है। वर्ण-विन्यास में सिद्ध कवि सहज ही सौन्दर्य और संगीत की सृष्टि करने में सक्षम होता है। वर्णों के ललित और पुरुष स्वभाव का सीधा सम्बन्ध रसास्वादन से होता है। वर्णों का लालित्य और पुरुषता का स्वभाव चित्त की द्रुति और दीप्ति में सहायक होता है। जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहरायी जाती है तो श्रोता आवेग की वक्रता से सहज ही प्रभावित होता है। शब्द और अर्थ में दो विशेषताएँ होनी चाहिए–

(i) कवि की उक्ति, प्रसिद्ध वचन व्यापार से भिन्न, वक्रता से युक्त होनी चाहिए।

(ii) वह उक्ति सहृदयों को आह्लादित करने में समर्थ होनी चाहिए।

वर्णविन्यास वक्रता के अनेक भेद हो सकते हैं और इस वर्णवक्रता की परिधि बहुत विस्तृत है, फिर भी प्रमुख प्रकार इस तरह हैं–

एकौ द्वौ बहवो वर्णोबध्यमानः पुनः पुनः।
स्वल्पान्तरात्रिधा सोक्ता वर्णविन्यास वक्रता।
वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरूक्तास्त-ल-नादयः।
शिष्टाश्च रादिसंयुक्ताः प्रस्तुतौचित्यशोभिनः।।

अर्थात् जिसमें एक, दो अथवा बहुत से वर्ण थोड़े-थोड़े अन्तर से बार-बार (उसी रूप में) ग्रंथित होते हैं, वर्णविन्यास-वक्रता अर्थात् वर्ण रचना की वक्रता कहलाती है। आचार्य कुन्तक ने एक ओर यदि इसकी परिधि विस्तृत की है, वृत्तियों को वर्णविन्यास-वक्रता में अन्तर्भाव करके यमक, यमकाभास आदि तथा यमक से साम्य रखने वाले अन्य अलंकारों को भी इसी के अन्तर्गत रखकर, तो वर्णविन्यास कौशल को सीमित भी किया है, उस पर अनेक प्रतिबन्ध लगाकर। राजानक कुन्तक सजग थे कि कहीं वर्णविन्यास-वक्रता के चक्कर में पड़ कर कवि, कविता के वास्तविक उद्देश्य से भटक न जाये अथवा निरंकुश न हो उठे। अतः उन्होंने वर्णविन्यास वक्रता के लिए कुछ प्रतिबन्धों को आवश्यक माना है। इस प्रकार कुन्तक ने **वर्णविन्यास वक्रता के प्रमुख छह** भेद किए हैं–

(i) एक वर्ण की आवृत्ति

वर दे, वीणावादिनी वर दे।

(ii) दो वर्णों की आवृत्ति

परपीड़ा से पूर पूर हो,
थक-थककर औ चूर-चूर हो।
अमल धवल गिरि के शिखरों पर
प्रियवर तुम कब तक सोये थे।
रोया यक्ष कि तुम रोये थे,
कालिदास, सच-सच बतलाना।

(iii) तीन वर्णों की आवृत्ति

कनकु कनक तैं सौगुनौ मादकता अधिकाइ।
उहिं खाएँ बौराइ इहिं पाएँ हीं बौराइ।।

उपर्युक्त उदाहरणों में एक वर्ण, दो वर्ण तथा दो से अधिक वर्ण की उपस्थिति को देखा जा सकता है।

(iv) **वर्णान्तरयुक्त स्पर्श वर्ण**–आचार्य कुन्तक वर्ण विन्यास वक्रता के द्वितीय प्रकार का सौन्दर्योन्मीलन करते समय इसे तीनों भागों में विभक्त कर देते हैं। वर्गान्त से युक्त स्पर्श, ककार से लेकर मकार पर्यन्त वर्ग स्पर्श कहलाते हैं, उनके अन्त के ङकार आदि के साथ संयोग हो तो वे वर्गान्तियोगी है। इनकी पुनःपुनः आवृत्ति वर्ण विन्यास वक्रता का प्रथम प्रकार है। कुन्तक की उपर्युक्त परिभाषा का आशय इस प्रकार है कि–

क वर्ग से लेकर प वर्ग तक के 25 वर्ण अर्थात्–

क वर्ग : क ख ग घ ङ
च वर्ग : च छ ज झ ञ
ट वर्ग : ट ठ ड ढ ण
त वर्ग : त थ द ध न
प वर्ग : प फ ब भ म

जब अपने अन्त्य वर्ण अर्थात् क ख ग घ – 'ङ' के साथ, च छ ज झ – 'ञ' के साथ, ट ठ ड ढ – 'ण' के साथ, त थ द ध – 'न' के साथ, प फ ब भ – 'म' के साथ, संयुक्त होकर बार-बार निबद्ध हो तो इस प्रकार के सौन्दर्य का सृजन होता है। यह सौन्दर्य वर्गान्त्य युक्त वर्ण के चमत्कार की श्रेणी में आता है। उदाहरणार्थ–

चंचल, अंचल था खिसक रहा कंचन काया से।

(v) **त, ल, न आदि के द्वित्य रूपों की वक्रता**–इसमें त, ल, न द इत्यादि वर्णों की द्वित्व आवृत्ति से चमत्कार की सृष्टि होती है। उदाहरणार्थ–

वल्लरियों में प्राण बल्लभा की आभा थी।

(vi) **रकार युक्त वर्ण (रेफ) की आवृत्ति**–स्पर्श वर्णों के साथ रकार वर्णों की आवृत्ति से वह वर्ण वक्रता पैदा होती है। उदाहरणार्थ–

चित्र भी चित्र और विचित्र भी, रह गए थे चित्रस्थ से सौमित्र भी।

कुन्तक सुन्दर वर्ण के विन्यास को एक तरह का चमत्कार स्वीकार करते हैं परन्तु वे वर्णों का प्रयोग कुछ प्रतिबन्धों के परिप्रेक्ष्य में ही स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि कोई भी वर्ण आग्रहपूर्वक न आया हो, विषयानुकूल प्रयोग हो, असुन्दषर वर्ण न हो, वैचित्र्य पूर्ण हो पर पुनः आवृत्त न हो, प्रसाद गुण से युक्त हो और सुनने में श्रुतिमधुर हो।

2. पद पूर्वार्द्ध वक्रता–वर्ण विन्यास के उपरान्त काव्य का दूसरा अवयव पद है अतः आचार्य कुन्तक ने वर्ण के पश्चात् क्रम के अनुसार पद-वक्रता का विवेचन किया है। पद के दो अंग हैं–पद पूर्वार्द्ध और पद परार्ध। वर्णों के योग से शब्द निर्मित होते हैं किन्तु जब वही शब्द सुबन्त या तिङन्त से संयुक्त हो जाते हैं तो पद का स्वरूप धारण कर लेते हैं। विभाजन की दृष्टि से प्रकृति और प्रत्यय पदों के दो भेद हैं। पद के प्रारम्भ में किए गए वैदग्ध्यपूर्ण वर्णन को पद पूर्वार्द्ध वक्रता एवं पदों में वैचित्र्यता के समावेश को कवि की कुशलता माना जाता है। कवि सहज एवं स्वाभाविक रूप से काव्य के अन्तःकरण की अनुभूतियों का यदि सौन्दर्य एवं चमत्कृत रूप से अपनी श्रेष्ठ कवि धर्मिता के द्वारा वर्णन करने लगे तो निश्चित ही वह पद के पूर्वार्द्ध की वक्रता कही जाएगी। कुन्तक ने इसे विभिन्न रूपों में विभक्त किया है। व्याकरणिक दृष्टि से पद सुबन्त (संज्ञा) और तिङन्त (क्रिया) के रूपों को कहते हैं। पद के दो अंग हैं–पद पूर्वार्द्ध और परपरार्ध। वर्णों के योग से निर्मित होते हैं किन्तु जब वही शब्द सुबन्त या तिङन्त से संयुक्त हो जाते हैं तो पद का स्वरूप धारण कर लेते हैं। विभाजन की दृष्टि से प्रकृति और प्रत्यय पदों के दो भेद हैं। मोटे तौर पर संज्ञा वैचित्र्य वक्रता और क्रिया वैचित्र्य वक्रता के विविध रूप इसके अन्तर्गत आते हैं। कुन्तक ने पद पूर्वार्द्ध वक्रता को आठ भागों में विभाजित किया है।

(i) **रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता**–रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता रूढ़ि (प्रसिद्ध अर्थ) के वैचित्र्य पर आश्रित है। रूढ़ि क्या है? रूढ़ि से अभिप्राय है, 'परम्परागत अथवा कोश तथा लोक व्यवहार में प्रसिद्ध वाच्य अर्थ'। किसी अर्थ विशेष पर रोहण करना रूढ़ि है। रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता वस्तुतः संज्ञा शब्दों की वक्रता है। रूढ़ि दो प्रकार ही होती है–(अ) नियत सामान्य वृत्तिता और

11. औचित्य सिद्धांत : स्वरूप तथा स्थापनाएँ

1. औचित्य सिद्धांत के स्वरूप और स्थापनाओं पर प्रकाश डालिए। **(Most Imp.**

अथवा

औचित्य सिद्धांत का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके स्वरूप का विकासात्मक विवेचन कीजिए।

अथवा

औचित्य सिद्धांत की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–औचित्य सिद्धान्त : अर्थ अवधारणा–औचित्य का अर्थ होता है, 'उचित का भाव'। रचना से प्रभाव तक जो भी उचित है उसे ग्रहण कर लेना और जो अनुचित हो उसे त्याग देना ही औचित्य है। दूसरे शब्दों में, औचित्य का अर्थ है, 'उपयुक्त सामंजस्य'।

औचित्य को काव्य में विशेष महत्त्व प्रदान करने वाले आचार्य क्षेमेन्द्र थे। यद्यपि मूल रूप से क्षेमेन्द्र ध्वनिवादी आचार्य थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ '**औचित्य विचार चर्चा**' में औचित्य को व्यापक काव्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित कर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया है–

औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।

अर्थात् रस से सिद्ध होने पर ही काव्य सिद्ध होता है और उस समय स्थिर जीवन के रूप में औचित्य का जन्म होता है। औचित्य के बिना रस की सत्ता सम्भव ही नहीं है।

औचित्य का कितना महत्त्व है, यह कदाचित् कहने की आवश्यकता नहीं हैं। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि से लेकर आज तक अनगिनत काव्याचार्यों ने औचित्य के महत्त्व पर विशिष्ट बल दिया है। भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ **'नाट्यशास्त्र'** में नायक के स्वरूप अभिनय, वेशभूषा आदि के लिए औचित्य की आवश्यकता पर स्पष्ट संकेत किया है–

वपोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो वेषानुरूपश्च गतिः प्रचारः।
गति प्रचारानुगतम् च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्चा कार्यः।।

अर्थात् अवस्थानुसार वेश वेशानुरूप क्रिया तथा गति प्रचार के अनुरूप पाठ्य और पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिए।

काव्यशास्त्र में औचित्य की स्थिति 'नाट्यशास्त्र' से भले ही स्वीकृत की जाए परन्तु इसका स्वतन्त्र रूप से सर्वप्रथम वर्णन आचार्य आनन्दवर्धन ने ही किया। उन्होंने रस संचरण में औचित्य के छह प्रकार माने। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का विशद् एवं व्यवस्थित विवेचन किया और काव्यात्मा के रूप में इसकी प्रतिष्ठा की। औचित्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए **आचार्य क्षेमेन्द्र** ने कहा है–

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किलयस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तरदौचित्यं प्रचक्षते।।

अर्थात् जो वस्तु किसी अन्य वस्तु के सदृश होती है उसे उचित कहते हैं। 'उचित' भाव ही औचित्य है। अन्य वस्तु के सदृश होने से तात्पर्य है, **'अन्य वस्तुओं की सापेक्षिक स्थिति के अनुकूल होना।'** संसार की कोई वस्तु अपनी स्वतन्त्र स्थिति में न ही सुन्दर है न ही असुन्दर है। अन्य वस्तुओं के साथ संगति या सामंजस्य की स्थिति में ही वह सुन्दर प्रतीत होती है। इस प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र ने किसी एक तत्त्व को महत्त्व न देकर सभी तत्त्वों के संतुलन और सामंजस्य पर बल देकर काव्य-चिन्तन को व्यापक सन्दर्भ प्रदान किया है। औचित्य पर बल प्रदान कर आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य को जीवन-मूल्यों के निकट प्रतिष्ठापित किया है। औचित्य जीवन को भी सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण करता है। सामाजिक मर्यादा की प्रतिष्ठा का आधार भी औचित्य ही है।

औचित्य सिद्धान्त : स्वरूपगत विवेचन

साहित्य में औचित्य तत्त्व व्यवस्था और अनुशासन के साथ सौन्दर्य संगति के लिए मान्य रहा है। मनुष्य की विवेक बुद्धि ग्राह्य और अग्राह्य वस्तु के प्रति अपनी स्वतन्त्र क्षमता के अनुरूप कार्य करती है। इस दृष्टि से उचित का चुनाव और पालन ही औचित्य है। लोक व्यवहार और सामाजिक आचरण के लिए भी औचित्य का महत्त्व स्वीकार किया गया है। यही आचरण की कसौटी पर मनुष्य के चरित्र का निर्धारण करता है। औचित्य का यह सामाजिक/समाजशास्त्रीय पक्ष ही उसे विस्तृत फलक प्रदान करता है। साहित्य की रचनाधर्मिता सामाजिक एवं सांस्कृतिक सहृदयों के लिए होती है। आत्म-अभिव्यक्ति लोक अभिव्यक्ति के कारण ही पुष्ट होती है। औचित्य के व्यावहारिक पक्ष की जब भी बात की जाती है, उसका सामाजिक महत्त्व स्पष्टतया परिलक्षित होने लगता है।

औचित्य की महत्ता सौन्दर्य की दृष्टि से भी स्वीकार की गई है। कालिदास की शकुन्तला इसलिए सुन्दर है कि जिस अंग प्रदेश में जितना सौन्दर्य होना चाहिए, उतना ही सौन्दर्य उस अंग प्रदेश में उपस्थित है–

यथाप्रदेशंविनिविशितेन।

संस्कृत काव्यशास्त्र में औचित्य एक व्यापक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है जिसकी आवश्यकता प्रायः सभी सिद्धान्तों में परिलक्षित होती है। औचित्य का न होना अनौचित्य माना गया है जिसके कारण काव्यदोषों की एक लम्बी शृंखला काव्यशास्त्र में पायी जाती है।

आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त वस्तुतः औचित्य पर विचार और उसकी विस्तृत चर्चा है। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम **'औचित्य विचार चर्चा'** है। संस्कृत के आचार्यों की विशेषता यह होती है कि उनका कोई भी सिद्धान्त रूढ़ नहीं है। वह निरन्तर गतिशील बना रहता है जिससे उसमें नये विचारों को जोड़ने और घटाने की स्थिति विद्यमान रहती है। बिना औचित्य के काव्य में जीवन का संचार नहीं होता है उसमें अलंकार और गुण का सन्निवेश चाहे जितना हो। आचार्य क्षेमेन्द्र ने स्पष्ट किया है कि अलंकार तभी अलंकार हैं जब वे यथोचित हों। इसी प्रकार गुण भी तब ही गुण होते हैं जब वे उचित स्थान पर प्रयुक्त हों। यहाँ यथोचित से तात्पर्य है कि पात्र, स्थिति, देशकाल और विषयवस्तु के अनुरूप ही काव्यात्मक तत्त्वों का उपयोग होना चाहिए। उपयोग की मात्रा भी औचित्य का निर्धारण करती है। औचित्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं–

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पार्णो नूपुरबंधनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुण नाऽयांतिके हास्यताम?
औचित्ये न बिना रुचिं प्रतनुते नोऽलंकृ तिर्नोगुणाः।।

अर्थात् कण्ठ (गले) में करधनी, नितम्ब पर दीप्तिमान हार, हाथों में नूपुर की योजना, चरण में केयूर पाश के बन्ध तथा शौर्यपूर्वक झुके हुए शत्रु पर करुणा करने से कौन व्यक्ति उपहास का पात्र नहीं हो सकता? ठीक इसी प्रकार औचित्य के अभाव में न तो अलंकार और न ही गुण शोभा उत्पन्न कर सकते हैं।

मानना है कि काव्य के अलंकार केवल अलंकार मात्र ही हैं जो केवल बाह्य उपकरण हैं। गुण भी
गुण ही हैं अर्थात् वे अन्तरंग होने पर भी काव्य के जीवन का सम्पादन नहीं कर सकते। रस के कारण ही काव्य में आनन्द
की उत्पत्ति होती है। ऐसे रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है–

अलंकारास्त्वलंकाराः गुणाएव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।
औचित्य स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य।
तेन विनास्य गुणालंकार युक्तस्यापि निर्जीवत्वात्।।
रसेन शृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य।
धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः।।

औचित्य का विचार काव्य से सम्बद्ध सभी तत्वों के साथ किया गया है। काव्यास्वाद के लिए तीन आवश्यक कार्य स्वीकार किए जा सकते हैं–(i) सृजन, (ii) आलोचन और (iii) आस्वादन। इन्हीं तीन बिन्दुओं को आधार बनाकर ही औचित्य पर विचार होता रहा है।

औचित्य सिद्धान्त : चिन्तन परम्परा

भारतीय काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास-क्रम में औचित्य सिद्धान्त विवेचन की एक समृद्ध विचार परम्परा परिलक्षित होती है। विभिन्न आचार्यों ने औचित्य सिद्धान्त पर अपने-अपने अनुरूप मत प्रस्तुत किए हैं। प्रमुख मत इस प्रकार हैं–

आचार्य भरत का मत–नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत का विवेचन रस सिद्धान्त पर आधारित है। आचार्य भरत ने रस की दृष्टि से अनुरूपता और अननुरूपता पर विचार करते हुए औचित्य को अनुरूपता के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य भामह का मत–अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य भामह ने चारुता की दृष्टि से औचित्य पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रवृत्तियों में विचार किया है। औचित्य के लिए उन्होंने न्याय और युक्ता जैसे नाम प्रदत्त किए हैं। आचार्य भरत के अनुरूप भामह लोक स्वभाव को औचित्य का प्रेरक तत्त्व स्वीकार करते हैं।

आचार्य दण्डी का मत–अलंकारवादी आचार्य दण्डी औचित्य के सम्बन्ध में विधिदर्शित मार्ग द्वारा संयम के साथ-साथ अनौचित्य के परिहार का भी संकेत करते दिखाई देते हैं।

आचार्य वामन का मत–रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन दोष की परिभाषा गुण-विपर्यय के में कहते हैं। वे दोष को काव्य-सौन्दर्य के लिए त्याज्य मानते हैं। वामन स्पष्टतः औचित्य का विचार न करके परोक्ष रूप से दोषों की चर्चा करते हैं।

आचार्य रुद्रट का मत–आचार्य रुद्रट लोक मर्यादा को औचित्य के रूप में स्वीकार करते हैं। रसानुकूल भाषा की दृष्टि से रुद्रट ने औचित्य का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है।

आचार्य आनन्दवर्धन का मत–आचार्य आनन्दवर्धन औचित्य के प्रतिष्ठापक आचार्य की तरह काव्य के रसबंध में औचित्य की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने रसाभिव्यक्ति के लिए काव्य में औचित्य की आवश्यकता पर महत्त्व दिया है। इनके औचित्य विवेचन के निम्नलिखित पक्ष हैं–(i) अलंकारौचित्य, (ii) गुणौचित्य (iii) संघटनौचित्य, (iv) प्रबन्धौचित्य, (v) व्याकरणौचित्य, (vi) नीत्यौचित्य और (vii) रसौचित्य।

◆◆◆

औचित्य के भेद

2. औचित्य सिद्धांत के विभिन्न भेदों का परिचय दीजिए।

अथवा

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के कितने भेद बताए हैं? उनका संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

उत्तर–औचित्य के भेद–'औचित्य विचार चर्चा' में आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य के भेदों पर चर्चा की है। इनका मानना है कि औचित्य के भेद अनन्त हैं तथा काव्य के प्रत्येक अंग और उपांग पर इसका व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के मुख्य 27 भेदों का विवेचन अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। ये निम्नलिखित हैं–

1. पदौचित्य–काव्य में पद या शब्द की महत्ता है। शब्द से ही काव्य रचना होती है। क्षेमेन्द्र का मानना है कि तिलक के समान एक ही उचित पद को धारण करने वाली सूक्ति समुचित एवं उत्कृष्ट स्थान में शोभाशाली होकर अद्भुत एवं मनोहर हो जाती है। शब्द प्रयोग या शब्द व्यवहार ही कवि की भाषा-शैली के प्रमाण और उसके कवित्व की क्षमता के मापदण्ड होते हैं।

2. वाक्यौचित्य–आचार्य क्षेमेन्द्र का मानना है कि औचित्यपूर्ण रचित वाक्य काव्य मनीषियों के सदा अनुकूल होता है–

औचित्यं रचितं काव्यम्, सततं सम्मतं सताम्। –(औचित्य विचार चर्चा, 12)

पद की तरह वाक्य की महत्ता भी असंदिग्ध है। वाक्य से पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति होती है और उसमें अर्थ की अन्विति हो जाती है। शब्दों के योग जिस भाव या रूप की सृष्टि करते हैं उनका प्रभाव खण्ड चित्रों के रूप में नहीं अपितु एक व्यवस्थित, शृंखलाबद्ध अखण्ड प्रक्रिया में समाहित होता है। यही प्रक्रिया वाक्य के रूप में पूर्ण होती है।

3. प्रबन्ध औचित्य–जिस रचना में समग्र प्रबन्ध का तात्पर्य अनुरूप और सादृश्य होता है तो वहाँ सहृदयों के चित्त को चमत्कृत करने की शक्ति होती है। क्षेमेन्द्र ने प्रबन्धौचित्य के लिए कालिदास के मेघदूत का एक श्लोक उद्धृत किया है–

जातंवंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दू रबन्धुतोऽहं
याच्ञामोघा परमधिगुणा नाधमं लब्धकामा।। –(मेघदूत पूर्वमेघ, श्लोक-6)

कालिदास के मेघदूत का यक्ष सन्देश-निरूपण करते समय मेघ के कई रूपों का स्मरण कर रहा है। वह मेघ के पुष्कर और आवर्तक जैसे उच्च वंश की प्रशंसा करता है। द्वैत को प्रधान पुरुष मानकर मेघ की कामरूपता का भी वर्णन करता है। यह इच्छित मेघ कहीं भी आ-जा सकता है। यज्ञ ऐसे ही दूत को चुनता है जो अलका तक अपनी निर्विघ्न यात्रा पूरी कर सके। यक्ष मेघ को अपने विषय में बताते हुए विधि के विधानवश अपनी भार्या से दूर हो गया है। बन्धुत्व में समानता होती है।

4. गुणौचित्य–काव्य के ओज, प्रसाद, माधुर्य और सौकुमार्य आदि गुण तभी भव्यता के साथ प्रस्फुटित होते हैं जब ये प्रस्तुत अर्थानुरूप प्रयोग किए जाते हैं। अर्थ पर दृष्टि रखकर ही काव्यों में गुणों का सन्निवेश किया जाता है। जिस प्रकार वीर पुरुष की ओजस्वी उक्तियों में ओज गुण विशेष प्रभावशाली होता है, उसी प्रकार विप्रलम्भ शृंगार की अभिव्यंजना के लिए माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों का निवेश सर्वथा सुन्दर होता है।

5. अलंकारौचित्य–'औचित्य विचार चर्चा' क्षेमेन्द्र ने अलंकारौचित्य के सम्बन्ध में कहा है कि प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलंकार-विन्यास होने से कवि की उक्ति उसी प्रकार चमत्कृत होती है जैसे पीन स्तनों पर रखे हुए हार से हरिणी-सी आँखों वाली सुन्दरी। अलंकार भी सरस काव्य में ही शोभायमान होते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार का वास्तविक अर्थ सौन्दर्य माना गया है। काव्यशास्त्र में 'रमणीयता' शब्द का प्रयोग भी सौन्दर्यात्मक भाव के अर्थ में हुआ है।

6. रसौचित्य–आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस के निर्वाह में औचित्य की भूमिका को महत्त्वपूर्ण माना है। वे मानते हैं कि जैसे वसन्त अशोक के वृक्ष को अंकुरित कर देता है, वैसे ही औचित्य से युक्त रस सहृदयों के मन को आह्लादित और अंकुरित कर देता है। औचित्य से समन्वित शृंगार आदि रस सहृदयों के चित्त में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान स्थापित कर लेते हैं।

7. क्रिया-औचित्य–काव्य में क्रिया शक्तियों को पहचानते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने क्रिया के व्यावहारिक रूपों पर ध्यान दिया है। जैसे किसी सज्जन व्यक्ति की क्रिया उसके आचार, गुण व्यवहार-कुशलता आदि का परिचय प्रदान करती है, वैसे ही काव्य में भी यदि क्रिया का प्रयोग उचित ढंग से हो तो काव्य में गुण संगति और व्याप्ति स्वयं उपस्थित हो जाती है। क्षेमेन्द्र का मानना है कि क्रिया के उचित होने पर जैसे सुजन में गुण, आचार एवं साधुता मानी जाती है तो उसी प्रकार यदि काव्य में क्रियापद ठीक हो तो वह काव्य गुणमय, संगीतमय तथा प्रशस्त माना जाता है।

8. कारकौचित्य–क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में औचित्य विवेचन के प्रसंग में आठवें औचित्य के रूप में कारक को लिया है। काव्य में व्याकरण के महत्त्व का तात्पर्य ही है, **'काव्य में भाषा के महत्त्व की शुद्धता, समीचीनता और अनुकूलता।'** व्यक्ति की समस्त क्रियाएँ कारकों के सहयोग से ही फलीभूत होती हैं। उचित कारकों की पारस्परिक संगति से वाक्यों में एक विशिष्ट प्रकार का निखार आ जाता है। परम्परागत कुलीनता और ऐश्वर्य उदार चरित्र के संयोग से विभाजित हो उठते हैं। तात्पर्य यह है कि कारकों के साथ वाक्य की शोभा बढ़ जाती है।

9. लिंगौचित्य–लिंगौचित्य को काव्यभाषा के तन्त्र की दृष्टि से उपयोगी होने के साथ ही भाषा के प्रयोग में भी लिंग को औचित्य स्वीकार किया गया है। लिंगवाचक शब्द से भी मनुष्य के चित्तों का गहरा सम्बन्ध है। भावों को अभिव्यक्त करने के लिए कवि जब अनुकूल शब्द चुनता है तो इस प्रकार के शब्दों का लिंग विधान जरूरी होता है। उचित लिंग का प्रयोग होने से काव्य में चारुता के साथ विशिष्ट सौन्दर्यानुभूति का अनुभव होता है।

10. वचनौचित्य–क्षेमेन्द्र ने औचित्य-चर्चा के प्रसंग में व्याकरण के 'वचन' को महत्त्व दिया है। काव्यशास्त्र में व्याकरण-शास्त्र, भाषा-शास्त्र का उपयोग किस प्रकार किया जाए कि शब्द-प्रयोग, वाक्य-प्रयोग एवं वर्णन की सुन्दरता स्पष्टतः परिलक्षित होने लगे।

11. विशेषण-औचित्य–काव्य-रचना में कवियों ने सदैव विशेष और अधिक गुणों का आदर किया है। कम की अधिक से तुलना करना और विशिष्टता की खोज ही आलंकारिक उक्ति का सृजन करती है। इसी आधार पर काव्य में उपमा, रूपक आदि साम्यमूलक अलंकारों की कल्पना की गई है। आचार्य क्षेमेन्द्र का मानना है कि समुचित विशेषणों के प्रयोग से विशेष्य की शोभा उसी तरह बढ़ जाती है, जिस प्रकार गुण के उदार सज्जन की शोभा अधिक गुण वाले मित्रों से और निखर जाती है। विशेषण की खोज वस्तुतः श्रेष्ठता की खोज है। श्रेष्ठ गुणों की खोज से ही देवत्व या नायकत्व की प्रतिष्ठा होती है इसीलिए नायकों में सामान्य व्यक्ति से अधिक गुणों की अपेक्षा की गई है।

12. उपसर्ग-औचित्य–उपसर्ग को अंग्रेजी में (Prefix) कहते हैं। इस शब्द का अर्थ है–समीप, जोड़ा हुआ। अतिरिक्त जोड़ने को ही उपसर्ग माना गया है। कालान्तर में किसी शब्द या क्रिया के पहले जोड़े हुए शब्द को उपसर्ग कहा गया है। उपसर्ग के औचित्य पर चर्चा में क्षेमेन्द्र का मानना है कि योग्य उपसर्ग के संसर्ग से निष्प्रभ गुणों वाली सूक्ति वैसे ही उदीयमान और वृद्धि गत दिखाई देती है जैसे कि सन्मार्ग पर गमन करने से सम्पत्ति की वृद्धि होती है।

13. निपात-औचित्य–औचित्य भेद के विभिन्न प्रसंग व्याकरण-शास्त्र से जुड़े हुए हैं। काव्यशास्त्र में व्याकरण-शास्त्र तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र आदि शास्त्रों और अनुशासनों का यथास्थान उपयोग किया गया है। निपात-औचित्य के लिए क्षेमेन्द्र का मानना है कि 'च' आदि उपादेय निपातों का जब उचित पद के साथ सम्बन्ध कर दिया जाता है तो काव्य की अर्थ संगति स्पष्ट हो जाती है।

14. कालगत-औचित्य–क्षेमेन्द्र ने कालगत औचित्य के निर्वाह से अर्थोत्कर्ष द्वारा चारुता का प्रवेश स्वीकार किया है। यह उसी प्रकार सम्भव है जैसे लोगों को आकृष्ट करने वाले भूषणों से सज्जनों का शरीर सुशोभित होता है।

15. देशौचित्य–क्षेमेन्द्र ने देशगत औचित्य का उपयोग काव्यात्मक अभिव्यक्ति की रुचिरता, काव्यभाषा और काव्यार्थ संवाद की दृष्टि से किया है। वस्तु और दृश्य के साथ एकात्मकता और परिचय की प्रतीति के लिए देशगत औचित्य का प्रयोग होता है।

16. कुलौचित्य–कुलौचित्य का सम्बन्ध लोकजीवन से सम्बन्धित होता है। कुल से बढ़ाया हुआ औचित्य विशेष उत्कर्ष का कारण होता है जैसे काव्यपुरुष प्रायः सहृदयों को प्रिय होता है।

17. व्रतौचित्य–लोकजीवन से काव्य के सन्दर्भ को स्थिर करने के लिए व्रतौचित्य की कल्पना की गई है। सद्व्रत विषयक औचित्य के निर्वाह से काव्यार्थ अधिवाद का पात्र बन जाता है और विशेष विधानवश जनमानस को संतुष्ट कर देता है।

18. तत्त्वौचित्य–क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य-रचना में तात्त्विक बातों की उद्भावना होती है। इससे काव्य अधिक उपयोगी, चित्ताकर्षक और लोकोपयोगी होता है।

19. सत्त्वौचित्य–आचार्य क्षेमेन्द्र ने सत्त्वगत औचित्य के विषय में कहा है कि कवि की वाणी में पात्र की सत्त्व वाणी विवेकानुमोदित सुधीजनों को उदात्त चरित्र की तरह अपूर्व चमत्कार प्रदान करती है।

20. अभिप्राय औचित्य–काव्य की सहज प्रेषणीयता को स्थापित करने के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने अभिप्राय औचित्य का महत्त्व प्रतिपादित किया है। काव्य की सफलता इसमें है कि वह सीधे सहृदय के चित्त में अपना स्थान स्थापित कर ले।

21. स्वभावौचित्य–रचनाकार की अन्तर्वृत्ति और अन्तर्दृष्टि के लिए क्षेमेन्द्र ने स्वभावौचित्य की स्थापना की है। स्वभाव से तात्पर्य है, 'अपना भाव या मानसिक विचार'। परम्परागत भावनाओं से मनुष्य इस स्वभाव को अर्जित करता है। जैसे सहज सौन्दर्य आकर्षक होता है वैसे ही स्वभावगत औचित्य काव्यात्मक अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को बढ़ा देता है।

22. सार संग्रह औचित्य–आचार्य क्षेमेन्द्र सार-संग्रहगत औचित्य के द्वारा काव्य-फल के निश्चित अर्थ का संकेत करते हैं। कवि अपने काव्य द्वारा अभीष्ट सत्य को यदि सही ढंग से प्रस्तुत कर पाता है तभी वह पाठकों तक प्रेषणीय बन पाता है। सार-संग्रह कवि के जीवनव्यापी अनुभवों का कोष होता है।

23. प्रतिभौचित्य–कवि की प्रतिभा का उचित प्रयोग जब काव्य को चमत्कृत कर देता है तो वहाँ पर प्रतिभौचित्य का पालन होता है। उस स्थिति में कविता अधिक प्रभावशाली और व्यंजक हो जाती है।

24. अवस्थागत औचित्य–अवस्थागत औचित्य का निर्वाह सौन्दर्य-बोध के लिए किया जाता है। सौन्दर्य की विशेषता उसकी समानुरूपता के अनुरूप होती है। सौन्दर्य को सभी अवस्थाओं में महत्त्व दिया जाता है।

25. विचारौचित्य–काव्य में उचित विचारों का समावेश कर उसे सुन्दर और ग्राह्य बनाना ही विचारौचित्य है। औचित्य की दृष्टि से विचार-विश्लेषण और आत्ममंथन का सूचक है। विचार में पुनरुत्पादन की क्षमता होती है।

26. नामौचित्य–भारतीय काव्यशास्त्र में नाम विषयक औचित्य के महत्त्व को भी प्रतिपादित किया गया है। आचार्य क्षेमेन्द्र का मानना है कि कर्म के अनुरूप नाम के द्वारा गुण एवं दोष को व्यवस्थित रूप से व्याख्यायित किया जा सकता है। ठीक वैसे ही जैसे कर्म के अनुसार यदि किसी व्यक्ति का नाम रख दिया जाए तो वह उचित प्रतीत होता है। ध्यान दिया जाए तो नाम सांसारिक परिचय का एक आवश्यक साधन है।

27. आशीर्वचनौचित्य–आशीः विषयक औचित्य को आशीर्वचनौचित्य या आशीर्वादौचित्य के रूप में स्वीकार किया गया है। आशीर्वाद से जैसे अभ्युदय होता है वैसे ही काव्य तभी सम्मान का पात्र होता है, जब उसका पूर्ण अर्थ विद्वानों और सहृदयों के हृदय में प्रस्फुटित एवं पल्लवित होने लगे।

◆◆◆

12. हिन्दी के प्रमुख आलोचक तथा उनकी आलोचना दृष्टि

(क) आचार्य रामचंद्र शुक्ल

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना दृष्टि का विवेचन कीजिए। **(Most Imp.)**

अथवा

आलोचक के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मूल्यांकन कीजिए।

अथवा

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-दृष्टि की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर–आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल एवं उनकी आलोचना दृष्टि–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आधुनिककालीन आलोचना शास्त्रियों में सर्वाधिक प्रमुख माने जाते हैं। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का गहन एवं गंभीर अध्ययन एवं मनन किया। तत्पश्चात् उन्होंने मौलिक प्रतिभा का परिचय देते हुए हिन्दी के आलोचना साहित्य को मूल्यवान निधि प्रदान की। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि शुक्ल जी ने आधुनिक युग के साहित्यकारों और आलोचकों के लिए मार्ग प्रशस्त किया। चिंतामणि भाग 1 और 2 तथा 'रस मीमांसा' शुक्ल जी की दो प्रमुख कृतियां हैं जिसमें उन्होंने आलोचना शास्त्र संबंधी अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। चिंतामणि के दोनों भागों में शुक्ल जी ने अलंकार और अलंकारों, साधारणीकरण काव्य में रसात्मकता, रसानुभूति, काव्य स्वरूप आदि विषयों पर मौलिक चिंतन किया है। **'रस मीमांसा'** में उन्होंने रस संबंधी सभी मान्यताओं का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त 'जायसी ग्रंथावली' गोस्वामी तुलसीदास तथा **'भ्रमरगीत सार'** की भूमिकाओं में उन्होंने शास्त्रीय आलोचना संबंधी अपने विचार व्यक्त किए है। शुक्ल जी मूलतः रसवादी आलोचक थे। उन्होंने उक्ति-वैचित्र्य की अपेक्षा भाव को अधिक महत्त्व दिया है। चिंतामणि भाग-1 में उन्होंने स्वीकार किया है कि रस ही काव्य की आत्मा है। रीति, अलंकार, वक्रोक्ति आदि रसाश्रित होने के कारण काव्य के सहायक मात्र हैं। उन्होंने काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकार किया परन्तु रीति, अलंकार आदि के प्रयोग पर कुछ मर्यादाएँ स्थापित कर दीं। उनके सन्दर्भ में **डॉ. रामलाल शर्मा** ने उचित ही लिखा है–**"आचार्य शुक्ल ही हिन्दी के पहले समर्थ आलोचक हैं जिन्होंने अपनी सजग ऐतिहासिक चेतना, सूक्ष्म उद्भावना शक्ति तथा तीव्र समीक्षक सृष्टि के द्वारा परम्परा के वर्तमानकालीन प्रवाहमान सूत्रों को ग्रहण कर, भारतीय काव्यशास्त्र का युग की आवश्यकताओं**

तथा परिस्थितियों की माँग के अनुरूप नवीन पदावली में वैज्ञानिक विवेचन किया। मौलिक काव्य शास्त्र परिचित कराया, अपने प्रतिपादित समीक्षा सिद्धान्तों द्वारा समीक्षा को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया तथा हिन्दी समीक्षा के सर्वग्राही तथा सर्वमान्य आदर्श का निर्माण किया।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना दृष्टि अथवा उनकी आलोचना दृष्टि की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन हम निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत कर सकते हैं–

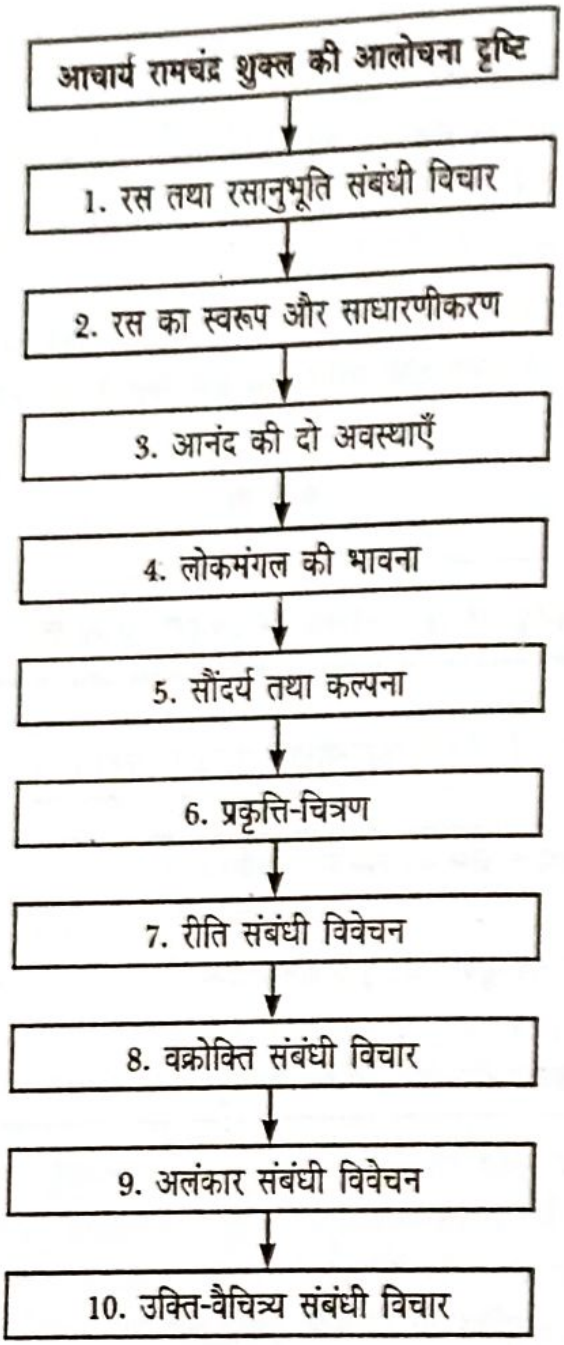

1. रस तथा रसानुभूति संबंधी विचार–पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि आचार्य शुक्ल रसवादी समीक्षक थे। रस के क्षे में भरत मुनि से लेकर पंडित राज जगन्नाथ तक के आचार्यों द्वारा काफी चिंतन हुआ। शुक्ल जी ने भारतीय काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन करने के बाद रस के बारे में अपनी धारणा बनाई। शुक्ल जी ने रस निष्पति और साधारणीकरण के बारे में प्राचीन आचार्यों की विस्तृत व्याख्या को स्वीकार नहीं किया बल्कि उन्होंने आधुनिक मनोवैज्ञानिक तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों की कसौटी पर प्राचीन रस संबंधी मान्यताओं को कस कर देखा। विशेषकर अलेक्जेंडर रोड और आई. ए. रिचर्ड्स आदि के विचारों के सन्दर्भ में रस सिद्धान्त को एक नवीन क्रान्ति प्रदान की। यही नहीं, उन्होंने रस सिद्धान्त को सामाजिकता और कर्मठता से जोड़कर प्रवृत्ति मार्ग के सिद्धान्त को अपनाया। शुक्ल जी ने हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा माना और इसी सन्दर्भ में कविता की परिभाषा देते हुए लिखा–**"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"** शुक्ल जी का अभिप्राय यह था कि रस दशा की स्थिति में व्यक्ति की वैयक्तिक सत्ता लोक सत्ता में लीन हो जाती है। इसे उन्होंने भाव योग कहा है और भाव योग को उन्होंने कर्म योग तथा ज्ञान योग के समकक्ष रखा है।

शुक्ल जी ने रसानुभूति की प्राचीन भाषा को आधुनिक वैज्ञानिक आलोक में परखने का प्रयास किया। यही नहीं उन्होंने विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव, साधारणीकरण आदि पर भी पुनः चिंतन किया और कुछ मौलिक उद्भावनाओं का प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि काव्य का साध्य रसानुभूति है। इस सन्दर्भ में उन्होंने दो मुख्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया–

1. अनुभूति काल में वैयक्तिक भाव का परिहार।
2. आश्रय के साथ सहृदय का तादात्म्य।

2. रस का स्वरूप और साधारणीकरण–शुक्ल जी ने आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित रस संबंधी मान्यता को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने रस को अलौकिक, अनिर्वचनीय तथा ब्रह्म स्वाद सहोदर आदि नहीं माना। उन्होंने रस को लौकिक कोटि का ही माना और उसे मनोभूमि तक सीमित कर दिया। उन्होंने रस को अलौकिक तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों से बाहर निकालकर लौकिक अनुभवों से जोड़ने का प्रयास किया। यह निश्चय ही शुक्ल जी की मौलिक उद्भावना थी जिससे अधिकांश विद्वान सहमत हैं।

पुनः रसानुभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने साधारणीकरण पर चिंतन किया। 'रसात्मक बोध के विविध स्वरूप' नामक निबन्ध में उन्होंने साधारणीकरण की परिभाषा देते हुए लिखा है–**"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आवलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम ही रस देता है।"**

शुक्ल जी के कहने का अभिप्राय यह है कि जब सहृदय अपने 'स्व' से मुक्त हो जाता है और लोकहृदय से जुड़ जाता है, उस दशा का नाम साधारणीकरण है। साधारणीकरण रस दशा तक पहुँचने का साधन है। इसे निम्नलिखित तालिका द्वारा समझाया जा सकता है–

काव्य ⟶ सहृदय (श्रोता) ⟶ व्यक्तित्व का परिहार ⟶ साधारणीकरण ⟶ रसदशा

शुक्ल जी का दूसरा विचार यह है कि काव्य हमेशा विशेष होता है। वे लिखते भी हैं–**"काव्य का विषय हमेशा विशेष होता है, सामान्य नहीं। वह व्यक्ति को सामने लाता है, जाति को नहीं। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है। अर्थ ग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता।"** शुक्ल जी का विचार है कि रसानुभूति के समय पाठक अथवा श्रोता के मन में आलम्बन विशेष-व्यक्ति या वस्तु की मूर्त भावना के रूप में नहीं आता बल्कि व्यक्ति मात्र या वस्तु मात्र के अर्थ संकेत के रूप में आता है। इसका मतलब यह हुआ कि साधारणीकरण आलम्बन धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, परन्तु उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिससे कि साक्षात्कार होने से सब श्रोताओं तथा पाठकों के मन में एक ही भाव उदित होता है। इस सामान्य भूमि पर पहुँचने के फलस्वरूप कवि और पाठक का द्वैतभाव नष्ट हो जाता है। कवि का मन ही सबका मन बन जाता है और कवि के भाव सब श्रोताओं या दर्शकों के भाव बन जाते हैं। यही कारण है कि नाटक, चलचित्र आदि को देखते समय अकसर दर्शक अथवा श्रोता हँसने अथवा रोने लग जाते हैं। जिस प्रकार का भाव कविता में वर्णित होता है, वही भाव दर्शक अथवा श्रोता का बन जाता है। इस स्थिति के पीछे साधारणीकरण की प्रक्रिया प्रमुख भूमिका निभाती है।

3. आनन्द की दो अवस्थाएँ–शुक्ल जी ने आनन्द को लौकिक माना है और उसकी दो दशाओं साधनावस्था और सिद्धावस्था की ओर संकेत किया है। इस दृष्टि से उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य को दो भागों में विभक्त किया है–

(क) आनन्द की साधनावस्था–साधनावस्था से अभिप्राय है–प्रयत्न पक्ष को लेकर लिखा गया काव्य। इस प्रकार का काव्य लोकमंगल को साध्य मानकर लिखा जाता है। इन काव्य रचनाओं में शूरवीरों और प्रतापी पुरुषों के प्रयत्न पक्ष का चित्रण किया जाता है। कारण यह है कि प्रयत्न पक्ष का नायक समाज में लोक कल्याण की भावना को प्रसारित करना चाहता है। शुक्ल जी ने मानव हृदय में मंगल का विधान करने वाले करुणा और प्रेम दो भाव माने हैं। करुणा की गति रक्षा की ओर अग्रसर होती है और यह संसार का प्रथम साध्य है। इस प्रकार के साहित्य में संसार के दुःखों को दूर करके दीन-दुखियों का उद्धार करने का प्रयास किया जाता है। आनन्द की साधनावस्था से संबंधित साहित्य में रामायण, महाभारत, रघुवंश तथा हिन्दी साहित्य में कुरुक्षेत्र जैसी काव्य रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

(ख) आनन्द की सिद्धावस्था–करुणा के अतिरिक्त दूसरा भाव 'प्रेम' है। प्रेम के विविध स्वरूपों का चित्रण तथा जीवन के आनन्द पक्ष का निरूपण जिस साहित्य में किया जाता है, वह साहित्य आनन्द की सिद्धावस्था से संबंधित है। इस प्रकार के साहित्य में प्रयत्न पक्ष जैसा संघर्ष देखने में नहीं आता। उदाहरण के रूप में गीत गोविन्द, विद्यापति की पदावली, सूरसागर, बिहारी

सतसई, रहीम के दोहे, कबीर की साखियाँ और पद इसी प्रकार की काव्य रचनाएँ हैं। शुक्ल जी के अनुसार सत् साहित्य वही है जिसमें जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है तथा जिसमें कोमल और कठोर, मधुर और प्रचण्ड तथा प्रेम और संघर्ष का समान रूप से चित्रण किया जाता है।

4. लोकमंगल की भावना—शुक्ल जी ने अपने साहित्य में लोकमंगल की भावना को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। **'काव्य में लोक मंगल की साधना विस्तार', 'तुलसी का भक्ति मार्ग', 'मानस की धर्मभूमि', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप'** आदि निबन्धों में लोकमंगल की भावना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उनका कथन था कि जिस काव्य में भीषणता के साथ मनोहरता, कटुता के साथ मधुरता तथा प्रचण्डता के साथ आर्द्रता का सामंजस्य रहता है तथा जिसमें कर्म क्षेत्र का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है वही लोकमंगल का काव्य है। वे लिखते भी हैं—**"काव्य कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।"** मंगल का विधान करने वाले दो भाव हैं—**"करुणा और प्रेम। इन दोनों में करुणा का महत्त्व अधिक है, क्योंकि इसका संबंध लोकरक्षा से है।"**

यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक होगा कि शुक्ल जी ने काव्य मीमांसा के मानदण्ड गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के आधार पर निर्धारित किए हैं। उन्होंने तुलसीदास को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया। उनका तर्क यह है कि उनकी कविता में प्रवृत्ति की प्रधानता है, निवृत्ति की नहीं। तुलसीदास ने इस दृश्यमान संसार में अपने आराध्य राम के माध्यम से कर्म-सौन्दर्य का उद्घाटन किया। राम का मार्ग संसार के संघर्षों का सामना करते हुए आगे बढ़ता है। यही कारण है कि शुक्ल जी ने लोकमंगल को ही काव्य का चरम साध्य माना परन्तु परवर्ती आलोचकों को शुक्ल जी का यह दृष्टिकोण पसन्द नहीं आया क्योंकि किसी एक कवि की रचना को आधार बनाकर आलोचना के सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते।

5. सौन्दर्य तथा कल्पना—पाश्चात्य काव्य जगत में सौन्दर्य के बारे में विस्तृत चर्चा हुई है। शुक्ल जी ने सौन्दर्य को सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित करते हुए उसके वस्तुवादी तथा लौकिक सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी। उनका विचार था कि मानव में अन्तः-बाह्य दोनों प्रकार का सौन्दर्य होना चाहिए। उन्होंने काव्य के सुन्दर और कुरूप दो पक्ष माने हैं। वे लिखते भी हैं—"सुन्दर और कुरूप काव्य में बस ये दो ही पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी ये सभी शब्द काव्य क्षेत्र से बाहर के हैं।"

कल्पना के बारे में भी शुक्ल जी ने अपने मौलिक विचार व्यक्त किए। भले ही उन्होंने कल्पना को काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग माना परन्तु उसे वह महत्त्व प्रदान नहीं किया जो पाश्चात्य समीक्षा शास्त्रियों ने दिया। उन्होंने कल्पना को साधन माना, साध्य नहीं माना। साथ ही मानसिक व्यवधान को ही कल्पना कहा। वे लिखते भी हैं—**"कल्पना काव्य का बोध पक्ष है। कल्पना में आई हुई रूप व्यापार योजना का कवि श्रोता को अन्तः साक्षात्कार द्वारा बोध होता है।"** शुक्ल जी के अनुसार कल्पना के दो प्रकार हैं—विधायक कल्पना और ग्राहक कल्पना। कवि में विधायक कल्पना अवश्य होनी चाहिए और श्रोता या पाठक में ग्राहक कल्पना। विधायक कल्पना द्वारा ही कवि काव्य रचना करता है। श्रोता अथवा पाठक ग्राहक कल्पना द्वारा कवि की रचना को पढ़कर रसानुभूति प्राप्त करता है। कल्पना बिम्बों का सृजन करती है और भाव प्रचार में सहायता करती है। कवि कल्पना ही रसानुभूति के लिए समुचित भूमि का निर्माण करती है।

6. प्रकृति चित्रण—शुक्ल जी के मन में प्रकृति के प्रति अत्यधिक प्रेम था। प्रकृति के साथ उनका रागात्मक संबंध था। उनमें प्रकृति के प्रति आत्मीयता तथा सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति थी। वे प्रकृति के प्रत्येक अवयव के प्रति अपनत्व की भावना रखते थे। प्रकृति के कोमल और रौद्र दोनों रूपों से उन्हें प्रेम था। उनके अनुसार प्रकृति ही विश्व काव्य है। वे लिखते भी हैं—"ये सब विश्व रूपी महाकाव्य की भावनाएँ हैं। स्वार्थ भूमि से परे, पहुँचे हुए सच्चे योगी या कवि ही इनके द्रष्टा होते हैं। जो कवि प्रकृति का मात्र उद्दीपन अथवा अलंकरण रूप में वर्णन करते हैं शुक्ल जी उन्हें तमाशबीन अथवा चमत्कारी कहते हैं।" वे प्रकृति के आलम्बन रूप के चित्रण के समर्थक थे। यही कारण है कि उन्होंने संस्कृत के कवियों में वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास आदि की अत्यधिक प्रशंसा की है, क्योंकि उनकी रचनाओं में प्रकृति का सूक्ष्म चित्रण देखा जा सकता है।

7. रीति संबंधी विवेचन—रीति संबंधी विवेचन के बारे में शुक्ल जी ने आचार्य आनन्दवर्धन तथा पाश्चात्य विद्वान वाटरस्टन का समर्थन किया। वे आचार्य वामन द्वारा किए गए रीति विवेचन से सहमत नहीं थे। उन्होंने बुद्धि तत्त्व और आत्म तत्त्व का समन्वय करते हुए रीति का विवेचन किया। शुक्ल जी का रीति संबंधी विवेचन न तो वामन के समान नीतिपरक है और न ही क्रोंचे के समान आत्मपरक। उन्होंने दोनों का समन्वय करते हुए अपना मौलिक दृष्टिकोण व्यक्त किया।

8. वक्रोक्ति संबंधी विचार—शुक्ल जी ने वक्रोक्ति अथवा चमत्कार को भी काव्य के लिए आवश्यक माना। शुक्ल जी ने चमत्कार के बारे में जो परिभाषा दी है उसमें कुन्तक द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति सिद्धान्त के सभी रूप समाहित हो जाते हैं। चिंतामणि भाग-1 में वे लिखते हैं—**"चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है, जिसके अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता, शब्दों**

की क्रीड़ा, वाक्य की वक्रता या वचन भंगी (काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति आदि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का प्रस्तुत अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या संबंध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना इत्यादि बातें आ जाती हैं।" इसी प्रकार से गोस्वामी तुलसीदास नामक रचना की भूमिका में वे लिखते हैं—"वक्रोक्ति से मेरा अभिप्राय कथन के उस ढंग से है, जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को मार्मिक तथा प्रभावशाली बना देता है। ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द, लक्षणा, व्यंजना शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु, पर्यायोक्ति जैसे अलंकारों का।"

9. अलंकार संबंधी विवेचन—शुक्ल जी ने काव्य में अलंकारों के महत्त्व को स्वीकार तो किया परन्तु उन्होंने अलंकारों को काव्य का बाह्यांग मानकर उन्हें चित्रण पक्ष के अन्तर्गत रखा। उनका विचार था कि अलंकार योजना रूप के प्रभाव को बढ़ाने के लिए होनी चाहिए। चिंतामणि में वे कहते हैं कि अलंकारों में ऐसे रूप या व्यापार सुगठित किए जाते हैं जो प्रभाव में प्रस्तुत रूपों और व्यापारों के समान हैं। उन्होंने प्राकृतिक उपमानों को ही काव्य के लिए उचित माना। प्राकृतिक उपमान मानव जाति के आदिम जीवन में भी सुलभ थे। इसीलिए वे रमणीक और मनोरंजक होते हैं। जायसी ग्रंथावली की भूमिका में वे लिखते हैं—**"वर्णन करने की अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण शक्तियाँ हैं जिन्हें काव्यों से चुनकर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे और लक्षण बताए, वे ही अलंकार हैं।"** संक्षेप में कह सकते हैं कि शुक्ल जी ने अलंकारों को काव्य का आंतरिक पक्ष कभी नहीं माना। वे अलंकारों को मात्र साधन मानते थे, साध्य कभी नहीं लेकिन फिर भी उन्होंने काव्य में अलंकारों की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया।

10. उक्ति-वैचित्र्य संबंधी विचार—उक्ति-वैचित्र्य के बारे में वे लिखते हैं—"उक्ति-वैचित्र्य से हमारा अभिप्राय उस विचित्र उड़ान से नहीं जिसके माध्यम से कवि लोग जहाँ रवि भी नहीं पहुँचता, वहाँ से अब उपमा, उत्प्रेक्षा की सामग्री किया करते हैं। वे उस वक्रता को सार्थक मानते थे जहाँ भाव या अनुभूति से प्रेरित होती है।" चिंतामणि भाग-1 में लिखते भी हैं—**"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे वे तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना वैचित्र्य चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे वह सूक्ति है।"** इससे स्पष्ट होता है कि शुक्ल जी ने उक्ति वैचित्र्य को साधन माना है, साध्य नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी के आलोचना सम्बन्धी विचार रस विवेचन पर आधारित हैं। उनके रस विवेचन का अपना स्वतंत्र महत्त्व है। रस विवेचन में उन्होंने प्राचीन का अनुवाद नहीं किया, बल्कि स्वतंत्र और मौलिक विवेचन किया। उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों तथा सिद्धान्तों का गहन अध्ययन किया तथा साथ ही पश्चात् समीक्षकों और आलोचकों का भी अध्ययन किया। जो विचार उन्हें अनुकूल लगे उससे वे सहमत हो गए और जिससे सहमत नहीं हुए उसके प्रति उन्होंने बिना संकोच किए बड़ी सतर्कता के साथ अपना मत व्यक्त कर दिया। मूलतः वे समीक्षक थे, परन्तु उन्होंने काव्यशास्त्र से सम्बन्धित जो विवेचन किया वह पूर्णतः मौलिक था। शुक्ल जी का गुण विवेचन भारतीय आचार्यों की अपेक्षा पाश्चात्य समीक्षकों के अधिक समीप है। उन्होंने काव्य में वस्तु और शैली दोनों के समन्वध पर बल दिया। शुक्ल जी ने सभी काव्य गुणों का सम्बन्ध काव्य के भाव अथवा रस से जोड़ा है। एक रसवादी आचार्य होने के कारण उन्होंने उन तत्त्वों को महत्त्व प्रदान किया जो भाव उत्कर्ष के रस में सहायक हुए हैं।

◆◆◆

(ख) आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी

2. आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि का विवेचन कीजिए।

अथवा

आलोचक के रूप में आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का मूल्यांकन कीजिए।

अथवा

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर–आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी एवं उनकी आलोचना दृष्टि–आचार्य नंददुलारे वाजपेयी वर्तमान समीक्षकों में एक महत्त्वपूर्ण आलोचक माने गए हैं। आरम्भ से ही उनकी रुचि आलोचना शास्त्र के प्रति रही है। शुक्ल के समान वाजपेयी जी ने अपना सारा जीवन हिन्दी साहित्य की इस विधा के विकास में व्यतीत कर दिया और हिन्दी साहित्य के समीक्षाशास्त्र को मूल्यवान योगदान दिया। शुक्ल जी के समान वाजपेयी जी ने भी भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों का गहन और गंभीर अध्ययन किया। पर्याप्त अध्ययन और मनन के पश्चात् उन्होंने अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया। यही कारण है कि भारतीय समीक्षा शास्त्रियों में उनका नाम

विशेष महत्त्व रखता है। 'आधुनिक साहित्य', 'हिन्दी साहित्य', 'बीसवीं शताब्दी', 'महाकवि सूरदास', 'पंत, प्रसाद और निराला की काव्य पर समीक्षात्मक कृतियाँ', 'नया साहित्य', 'नए प्रश्न' आदि उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। वाजपेयी जी मूलतः रसवादी समीक्षक थे। उनकी रचनाओं से भी यही दृष्टिकोण व्यक्त होता है। एक स्थल पर वे लिखते भी हैं–**''मैं मानता हूँ कि मार्क्सवादी दर्शन में कोई ऐसी बात नहीं जो हमारी नैतिक उन्नति में रूकावट डाले, न ही हमारे आध्यात्मिक दर्शन में ऐसी बात है जो नवीन समाजवादी व्यवस्था के लिए घातक हो।'** इस संदर्भ में **श्री नंद किशोर नवल** ने लिखा भी है–**''वाजपेयी जी न भाववादी हैं, न भौतिकतावादी, न व्यक्तिवादी, न समाजवादी, वे तो वस्तुतः समन्यवादी हैं।''**

निश्चय से वाजपेयी जी एक महान विचारक, समीक्षक और निबंधकार के रूप में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में जाने जाते हैं। वे अपने तार्किक दृष्टिकोण, मौलिक सूझ-बूझ, महत्त्वपूर्ण पकड़, अनुपम विवेचन पद्धति तथा अद्वितीय सैद्धान्तिक चिन्तन के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने बड़ी निर्भीकता तथा स्वतन्त्रता के साथ समीक्षा शास्त्र का विवेचन किया। यही नहीं उन्होंने बड़ी कुशलता, दक्षता और निपुणता के साथ वैज्ञानिक दृष्टि रखते हुए काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का खंडन-मंडन किया। भले ही वाजपेयी जी छायावाद के सौन्दर्य-बोध तथा उसकी नूतन उपलब्धियों के प्रशंसक रहे हो, लेकिन उन्होंने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का भी गहन अध्ययन किया। वाजपेयी जी की समीक्षा पद्धति के अन्तर्गत हिन्दी की परम्परावादी, आदर्शवादी, स्वच्छन्तावादी तथा यथार्थवादी विचारधाराएँ समन्वित रूप में देखी जा सकती हैं। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि अथवा उनकी आलोचना दृष्टि की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन हम निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत कर सकते हैं–

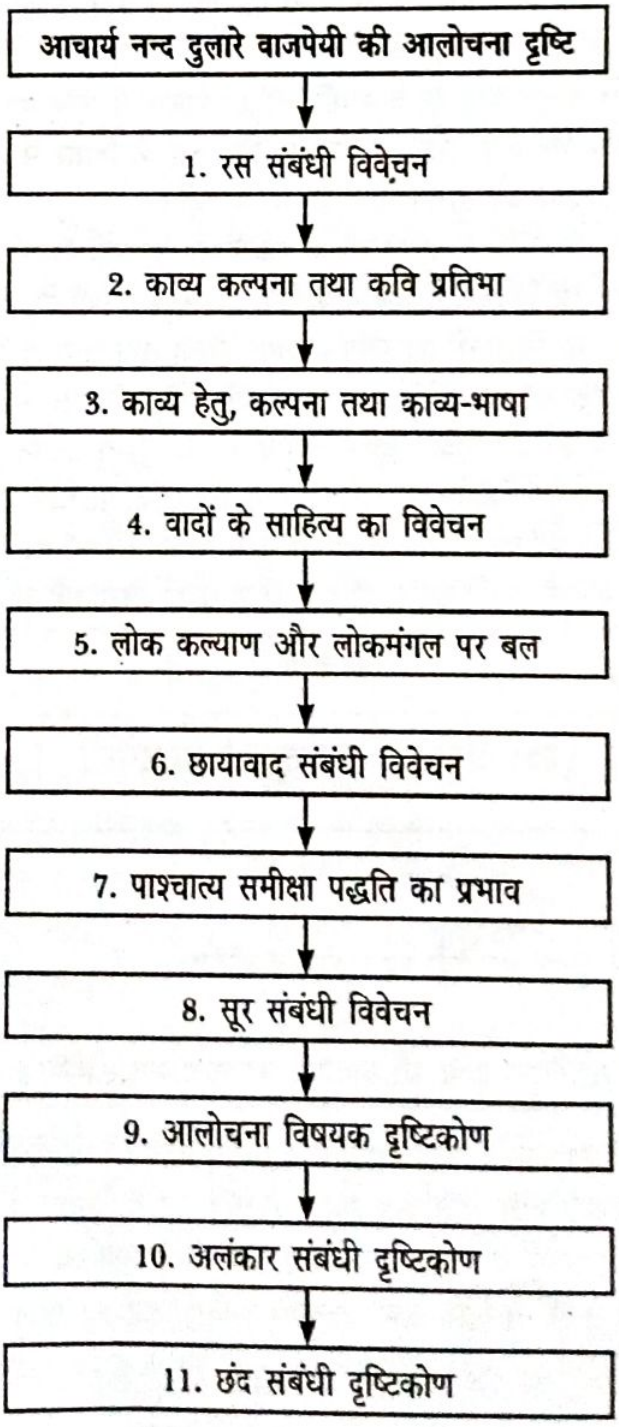

1. रस संबंधी विवेचन—कुछ विद्वानों ने वाजपेयी जी को रसवादी समीक्षक कहा है, परन्तु उनकी रस मीमांसा जहाँ एक ओर प्राचीन परम्परागत रूढ़ियों से मुक्त है, वहीं दूसरी ओर आधुनिकता का भी स्पर्श करती है। उनका विचार है कि रस संबंधी पुरानी विचारधाराएँ आज की वास्तविकता से कोसों दूर हैं, अतः आज के साहित्य पर इसे लागू नहीं किया जा सकता। उनका कथन है कि प्राचीन मान्यताओं के अनुसार रस मीमांसा में अलौकिकता का विशेष महत्त्व है। इससे काव्य जगत की बड़ी हानि हुई है। अलौकिकता पर अधिक जोर देने के कारण लौकिकता बढ़ती चली गई और कविता व्यक्तिगत होने लगी। इसी के फलस्वरूप दरबारी कवियों की अधिकाधिक सृष्टि होने लगी। वाजपेयी जी ने प्राचीन रस सिद्धान्त में अनेक दोष निकाले हैं। उन्होंने रस संबंधी धारणा की भरत मुनि के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त के मतों की समीक्षा की। साथ ही ध्वनि सिद्धान्त पर चिंतन करते हुए उन्होंने रस सिद्धान्त को आधुनिक मनोविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र के संदर्भ में परखने का प्रयास किया। **हिन्दी साहित्यः 20वीं शताब्दी** में वे लिखते हैं—**"शुक्ल जी नीति के चक्र के फेर में पड़ गये, जिससे उनका विवेचन निस्संग और निष्पक्ष नहीं रह सका। उनकी व्यक्तिगत मान्यताओं से उनकी समीक्षा दृष्टि बहुत दूर तक प्रभावित हुई है। साहित्य विवेचन में जिस मनोवैज्ञानिक तटस्थता की आवश्यकता है, वह शुक्ल जी में दिखाई नहीं पड़ती।"** उनका यह भी कथन था कि किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक विचार अथवा साहित्यिक सिद्धान्त का समर्थन करते हुए काव्य की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए क्योंकि सिद्धान्त सीमित होते हैं और कला असीमित होती है। कला अथवा काव्य को सीमाओं में जकड़ा नहीं जा सकता फिर भी सौन्दर्य ही काव्य की सीमा अथवा बंधन कहा जा सकता है परन्तु सौन्दर्य की परख के लिए न तो कोई निश्चित आधार है, न परख है। काव्य सौन्दर्य के परीक्षण के बारे में वे अपनी रचना आधुनिक साहित्य में लिखते हैं—**"काव्य का वास्तविक सौन्दर्य कवि के काव्य सौन्दर्य की भावात्मक परीक्षा में निहित है। भावना, अनुभूति या संवेदना ही वह तत्त्व है जिसके आधार पर स्थायी मापदण्ड का निर्माण किया जा सकता है। इसी में कला का सौष्ठव निहित है।"**

2. काव्य कल्पना तथा कवि प्रतिभा—काव्य के स्वरूप के बारे में वाजपेयी जी ने कुछ मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। काव्य की परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं—**"कविता क्या है—यह प्रश्न अब यहाँ उपस्थित है। काव्य तो प्राकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौन्दर्य संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं।"** वाजपेयी जी ने प्राचीन रूढ़िगत विचारों से अपनी असहमति व्यक्त की। उन्होंने सभी मान्यताओं का विरोध भी नहीं किया। काव्य और कल्पना के बारे में उन्होंने मौलिक विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—**"अनुभूतियों का चित्रण जिस नैसर्गिक कल्पना के सहारे होता है, उसकी उद्भाविका कवि की प्रतिभा होती है। यह कल्पना जितनी नैसर्गिक और प्रशस्त होगी, उतना ही काव्य का सृजन करेगी, उतना ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ़ जाएगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा।"**

3. काव्य हेतु, कल्पना तथा काव्य भाषा—प्राचीन आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार ही काव्य के हेतु निर्धारित किए हैं परन्तु वाजपेयी जी ने काव्य हेतु के बारे में अपने मौलिक विचार व्यक्त करते हुए कहा कि आत्मानुभूति ही काव्य का हेतु है। अनुभूति रहित काव्य को उन्होंने काव्य नहीं माना। 'आधुनिक साहित्य' में उन्होंने स्पष्ट किया कि रस और ध्वनि सिद्धान्तों के मूल में अनुभूति का ही महत्त्व है और अनुभूति अखण्ड सत्ता है। जहाँ तक कल्पना का प्रश्न है, उन्होंने उसे मानव जीवन की अभिव्यक्ति के अनिवार्य माध्यम के रूप में स्वीकार किया। **'नया साहित्य नए प्रश्न'** में वे लिखते हैं—**"कल्पना का साहित्य काव्य का नियामक तत्त्व है। कल्पना का स्वरूप रूपात्मक है। रूप की सत्ता भावाश्रित होती है। अतः साहित्य भावाश्रित रूप ही है।"**

काव्य भाषा के बारे में उनका दृष्टिकोण बड़ा ही उदार और व्यापक है। उनका कहना था कि सभी प्रकार की भाषाएँ काव्य के लिए उपयोगी हो सकती हैं परन्तु उनका प्रयोग सहज विधि से होना चाहिए। भाषा की अपनी शक्ति, अपनी इच्छा, अपने संस्कार होते हैं। वह हमारे भावों विचारों का नहीं है, ठोक-पीटकर सब समय उसे इच्छानुसार नहीं बनाया जा सकता। यही नहीं, उन्होंने तीनों शब्द-शक्तियों को अभिव्यक्ति की प्रणालियाँ माना है। अभिधा प्रणाली को उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया।

4. वादों के साहित्य का विवेचन—वाजपेयी जी के युग में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि अनेक वादों का बोलबाला था। इस सन्दर्भ में उनका कथन था कि वाद वस्तुतः जीवन संबंधी धारणाओं और प्रवृत्तियों का बौद्धिक निरूपण है। प्रत्येक वाद की अपनी सीमा रेखा होती है। प्रत्येक वाद के अन्तर्गत अलग प्रकार की जीवन दृष्टियाँ देखी जा सकती हैं। समय के अनुसार वाद की शक्तिमत्ता घटने लगती है, परन्तु किसी भी वाद का मूल्यांकन करते समय आलोचक को युग की ऐतिहासिक प्रगति की ओर ध्यान देना चाहिए। उनके अनुसार वाद एक स्थूल और परिवर्तनशील जीवन-दृष्टि है। इसे काव्य जीवन की अनुभूति भी कहा जा सकता है। जहाँ वाद सिद्धान्त से जुड़ा होता है, वहाँ काव्य हृदय और व्यक्ति से जुड़ा हुआ होता है। काव्य संवेदनशीलता